ओ३म्

अभिनव संस्कार विधिः।

वेदानुकूलैर्गर्भाधानाद्यन्त्येष्टि पर्यन्तैः षोडश संस्कारै समन्वितः।

PART-02 (Page 210 to 464)

लेखक

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य

श्री स्वामी आत्मानन्द तीर्थ।

(ग्रन्थस्य सर्वाधिकारः लेखकाधीनः।)

प्रकाशकः-

धर्म संस्थान, आर्ष योगाश्रम,

खरखौदा, मेरठ, उ०प्र०

सम्वत् २०५३ वि०

मूल्य ७५ रु०

विषय-सूची

क्रम संख्या	अभिनव संस्कार विधेर्विषय सूची पत्रम्	पृष्ठ संख्या
१.	विषय सूची पत्रम्।	१
२.	भूमिका।	३
३.	ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना प्रकरणम्।	५
४.	स्वस्ति वाचनम्।	९
५:	शान्ति करणम्।	२२
६.	वेद मन्त्रों के ऋषि, देवता तथा स्वर	३४
७.	सामान्य प्रकरणम्।	३६
८.	यज्ञ पात्र विवरण।	४०
९.	यज्ञ प्रकरणम्।	४८
१०.	यज्ञ विधिः (विशेष)।	६२
११.	वामदेव्य गान।	६४
१२.	गर्भाधान प्रकरणम्।	६६
१३.	पुंसवन प्रकरणम्।	९४
१४.	सीमन्तोन्नयन प्रकरणम्।	१००
१५.	जातकर्म प्रकरणम्।	१०८
१६.	नामकरणप्रकरणम्।	१२४
१७.	निष्क्रमण प्रकरणम्।	१३२
१८.	अन्न प्राशन प्रकरणम्।	१३६
१९.	चूड़ाकर्म प्रकरणम्।	१४१
२०.	कर्ण वेध प्रकरणम्।	१५०
२१.	उपनयन प्रकरणम्।	१५३
२२.	वेदारम्भ प्रकरणम्।	१६८
२३.	समावर्त्तन प्रकरणम्।	१९८
२४.	विवाह प्रकरणम्।	२१०

भूमिका

२५.	गृहाश्रम प्रकरणम् ।	२८९
२६.	सन्ध्या प्रकरणम् ।	३१४
२७.	पञ्च महायज्ञ प्रकरणम् ।	३३२
२८.	पक्षेष्टि प्रकरणम् ।	३४२
२९.	नव सम्वत्सरेष्टि प्रकरणम् ।	३४३
३०.	नवशष्येष्टि प्रकरणम् ।	३४३
३१.	शाला निर्माण विधि प्रकरणम् ।	३४६
३२.	ब्राह्मणादि वर्ण व्यवस्था प्रकरणम् ।	३६२
३३.	गृहाश्रमे विभिन्न कर्त्तव्य प्रकरणम् ।	३६६
३४.	वानप्रस्थ प्रकरणम् ।	३८०
३५.	संन्यास प्रकरणम् ।	३८९
३६.	अन्त्येष्टि प्रकरणम् ।	४४०

विवाह संस्कारः ।

"विवाह" उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत, विद्या, बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभगुण कर्म और स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाण—

उदगयन आपूर्य्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे चौलकर्मोपनयन गोदान विवाहाः ॥ १ ॥ *(आश्वला० गृ० सू० १ । ४ । १)*

अर्थ—उत्तरायण, शुक्ल पक्ष, पुण्य नक्षत्र अर्थात् शुभ दिन, चौल कर्म अर्थात् मुण्डन संस्कार, उपनयन, गौदान तथा विवाह, जिस दिन प्रसन्नता हो उस दिन करना चाहिये।

सार्वकालमेके विवाहम् ॥ २ ॥ *(आश्वला० गृ० सू० १ । ४२)*

अथवा सब काल में विवाह कर लेना चाहिये।

आवसथ्याधान दार काले ॥ ३ ॥ *(पार० गृ० सू० १ । २ । १)*

अर्थ—आवसथ्य अग्नि के स्थापन में विवाह होता है।

पुण्य नक्षत्रे दारान् कुर्वीत् ॥ ४ ॥ *(गोभिलीय गृ० सू० २ । १ । १)*

अर्थ—पुण्य नक्षत्र में अर्थात् प्रसन्नता के दिन ही स्त्री से विवाह करें।

लक्षण प्रशस्तान् कुशलेन ॥ ५ ॥ *(गोभिलीय गृ० सू० २ । १ । २)*

अर्थ—जो स्त्री शुभगुणादि से सम्पन्न तथा व्यवहार कुशल हो उससे विवाह करना चाहिये।

विवाह का समय—ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्या ग्रहण की समाप्ति के पश्चात् ही विवाह करें। परन्तु पच्चीस वर्ष की आयु से पूर्व पुरुष तथा सोलह वर्ष की आयु से पूर्व स्त्री कभी भी विवाह न करें। वधू और वर की आयु, कुल, निवास स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें। अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करने वाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु कम

से कम डयौढ़ी और अधिक से अधिक दुगुनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी अवश्य करनी चाहिये। इसमें प्रमाण—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथा क्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत पूर्वक चार, तीन, दो अथवा एक वेद को क्रम सहित यथावत् पढ़ अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करें।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथा विधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्वितम्॥ २॥

अर्थ—यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके अर्थात् स्नातक बन, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करें।

असपिण्डा च या मातुर सगोत्रा च यापितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ३॥

अर्थ—जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, द्विजों के लिये वही विवाह करने में उत्तम है।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधन धान्यतः।
स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परि वर्जयेत्॥ ४॥

अर्थ—गो आदि पशु, धन और धान्य से, चाहे कितने बड़े क्यों न हों निम्नलिखित दश कुलों की कन्या के साथ विवाह न करें।

हीनक्रियं, निष्पुरुषं, निश्छन्दो रोम शार्श सम्।
क्षय्यामयाव्य-पस्मारिश्वित्रिकुष्ठि कुलानि च॥ ५॥

अर्थ—उत्तम क्रिया रहित, उत्तम पुरुष से रहित, विद्वान् पुरुष रहित, शरीर पर बड़े-बड़े लोमों से युक्त, क्षयी, मन्दाग्नि से युक्त, मृगी वाले, श्वेत कुष्ठ तथा गलित कुष्ठ वाले कुलों में कभी विवाह न करे।

नो द्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गी न रोगिणीम्।
ना लोमिकां नाति लोमां न वाचायं न पिङ्गलाम॥ ६॥

अर्थ—पीले वर्ण वाली, अधिक अङ्ग वाली जैसे छंगुली आदि, रोगी, लोम रहित तथा अधिक लोम वाली, वाचाल तथा बिल्ली के सदृश पीले नेत्रों वाली कन्या से विवाह न करे ।

नर्क्ष वृक्ष नदी नाम्नीं नान्त्यपर्वत नामिकाम् ।
न पक्ष्यहि प्रेष्य नाम्नीं न च भीषण नामिकाम् ।। ७ ।।

अर्थ—नक्षत्र परक नाम वाली यथा रेवती, नदी पर नाम वाली यथा गङ्गा, पर्वत परक नाम वाली यथा विन्ध्याचला, पक्षी परक नाम वाली यथा कोकिला, अहि परक नाम वाली यथा भोगनी, प्रेष्य परक नाम वाली यथा दासी, तथा भीषण नाम वाली यथा चण्डिका आदि नाम्नी कन्या से विवाह न करे ।

अव्यङ्गाङ्गी सौम्य नाम्नीं हंस वारण गामिनीम् ।
तनु लोम केश दशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ।। ८ ।।

अर्थ—सुन्दर तन्वङ्गी, उत्तम नाम युक्त, हंस तथा हस्तिनी की चाल वाली, सूक्ष्म लोम तथा शोभन केश युक्त, सुन्दर दांतों वाली, कोमलाङ्गी स्त्री से विवाह करे ।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमे ऽधमः ।। ९ ।। *मनु० ॥*

अर्थ—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस तथा अधम पिशाच विवाह सहित, आठ प्रकार के विवाह हैं ।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुति शीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तिता ।। १० ।।

अर्थ—कन्या के योग्य, सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके उत्तम पुरुष को बुला जिसे कन्या ने भी स्वीकार किया हो, उसको कन्या देना ब्राह्म विवाह है ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते ।। ११ ।। *मनु० ॥*

अर्थ—विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर उसमें कर्मै करने वाले विद्वान् को वस्त्र आदि से अलंकृत कर कन्या को देना, दैव विवाह है ॥

एक गो मिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना आर्ष विवाह है ।

यह समीचीन प्रतीत नहीं होती तथा आगे मनु प्रोक्त श्लोकों के विरुद्ध भी है, इसलिये कुछ भी न ले दे कर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण करना आर्ष विवाह है ।

सह नौ चरतां धर्ममिति वाचनु भाष्य च ।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिस्मृतः ॥ १३ ॥

अर्थ—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि पूर्वक विधि करके, सबके सामने तुम दोनों मिल के गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कह कर दोनों की स्वीकृति से पाणिग्रहण होना, प्राजापत्य विवाह है ।

ये चार विवाह उत्तम हैं ।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—वर की जाति वालों और कन्या को यथाशक्ति धन देके होम आदि विधि करके कन्या देना आसुर विवाह है ।

इच्छायाऽन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः काम सम्भवः ॥ १५ ॥

अर्थ—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों पति पत्नी हैं, यह काम से सम्पन्न हुआ गान्धर्व विवाह है ।

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्ती रुदतींगृहात् ।
प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधि रुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—हनन, छेदन अर्थात् कन्या को हरण, रोकने वालों का विदारण कर, क्रोशती, रोती, कांपती और भयभीत हुई कन्या का बलपूर्वक हरण करके विवाह करना, राक्षस विवाह है ।

यह नीच विवाह है ।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमो ऽधमः ॥ १७ ॥

अर्थ—सोती हुई, पागल हुई, वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, नीच से नीच, महानीच, दुष्ट अतिदुष्ट पैशाच विवाह है ।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानु पूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्ट संमतः ॥ १८ ॥

अर्थ—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे वेदादि विद्या से सम्पन्न, तेजस्वी, आप्त पुरुषों के समान अत्युत्तम होते हैं ।

रूप सत्त्व गुणो पेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्त भोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ १९ ॥

अर्थ—वे पुत्र वा कन्या सुन्दर, रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध बुद्धयादि उत्तम गुण युक्त, विपुल धन सम्पन्न, पुण्यवान्, कीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं ।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृत वादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ २०

अर्थ—इन चार विवाहों से अतिरिक्त चार विवाह, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न संतान निन्दित कर्म कर्त्ता, मिथ्यावादी, वेद धर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव वाले होते हैं ।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ २१ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० २, ४-१०, २१, २७-३४, ३९-४२) ॥

अर्थ—इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिने उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनको करना अत्युत्तम है ।

उत्कृष्टाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः॥ १॥ *मनु० ॥*

अर्थ—यदि कन्या के माता पिता कन्या का विवाह करना चाहें, तो अति उत्कृष्ट शुभ गुण कर्म स्वभाव वाले कन्या के सदृश शुभ गुण कर्म स्वभाव वाले, कन्या के सदृश रूप लावण्यादि गुण युक्त वर ही को चाहें। वह कन्या वर की माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें।

काम मा मरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयछेत्तु गुणहीनाय कर्हिं चित्॥ २॥

अर्थ—चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में अविवाहित बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे। और वर तथा कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करे।

त्रीणि वर्षाण्यु दीक्षते कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशंपतिम्॥ ३॥

(मनु० अ० ९। श्लोक ८८, ८९, ९०)॥

अर्थ—जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष पश्चात् चौथे वर्ष में विवाह करें।

प्रश्न"अष्ट वर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी?

उत्तर—इन श्लोकों और इनके मानने वालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा, उनको नष्ट भ्रष्ट रोगी, अल्पायु करते हैं, वे जानों अपने कुल का सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें तो सोलह वर्ष से न्यून कन्या और पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें करावें। इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा।

प्रश्न—विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

उत्तर—दुहिता दुर्हिता दूरेहिताभवतीति ॥ (तु० निरूक्त ३ । ४) ॥

अर्थ—कन्या दूर रहकर ही हितकर होती है।

यह निरूक्त का प्रमाण है, कि जितना दूर देश में विवाह होगा, उतना ही अधिक लाभदायक होगा।

प्रश्न—अपने गोत्र वा भाई बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होना चाहिये?

उत्तर—एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है उतनी प्रत्यक्ष पदार्थ में नहीं होती और बाल्यावस्था के गुण दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते।

दूसरा—जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्णरूपेण नहीं होती।

तीसरा—दूरस्थ देश में सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति तथा ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं। युवावस्था ही में विवाह करने में वेद-प्रमाण—

गृत्समदः ऋषिः। अपान्नपात् देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

तमस्मेरा युवतयो युवानं समृज्यमानाःपरियन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रे वदस्मे दीदायानिध्मोघृत निर्णि गुप्सु ॥ १ ॥

(ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४)॥

अर्थ—जो (ममृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से युक्त (युवतयः) तरुणियां हैं, वे (आपः) जैसे जल समुद्र को प्राप्त होता है वैसे (अस्मेरा) हमको प्राप्त होने वाली, अपने अपने पसन्द, अपने-अपने से ड्योढ़े वा दूने आयु वाले हैं (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षण युक्त (युवानम्) तरुण पति को (परियन्ति) भली भांति प्राप्त होती है (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्विभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्री युक्त कर्म को (दीदाय) अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे: जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृत निर्णिक्) जल को

शोधन करने हारा (अनिध्मः) स्व प्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर से सुप्रकाशित रह कर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को ग्रहाश्रम में दोनों स्त्री पुरुष प्राप्त होवें।

गृत्समदः ऋषिः । अपान्नपात् देवताः । स्वराट पंक्ति छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

अस्मे तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीदिधिषन्त्यन्नम् ।
कृता इवोष हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्व सूनाम् ॥ २ ॥

(ऋ० मं० २ । सू० ३५ । मं० ५) ॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! जैसे (तिस्र) उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट स्वभाव युक्त (देवीः नारीः) विद्वान् पुरुषों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथाय) पीड़ा रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दीधिषन्ती) धारण करती हैं (कृता इव) की हुई शिक्षा के तुल्य (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसस्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है (स हि) पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयुषं) अमृतरूप इसको (पूर्व सूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीकर बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के संतान यथावत् बढ़ते हैं।

गृत्समदः ऋषिः । अपान्नपात् देवताः । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन ।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो विनेशन्नानृतानि ॥ ३ ॥

(ऋ० मं० २ । सू० ३५ । मं० ६) ॥

अर्थ—जैसे राजादि सब लोग (पुर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्या रूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्म बल युक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते और (अमृतानि) मिथ्या भाषणादि दुष्ट दुर्व्यसन उनको प्राप्त (न) नही होते, वैसे

उत्तम स्त्री पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसादि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते, किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नता पूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्री व पुरुष ! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है।

गृत्समदः ऋषिः। द्रविणोदाः देवताः। विराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः।

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परिवर्त्तयाते॥ ४॥

(ऋ० मं० ५। सू० ३७। मं० ३)॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षण युक्त पूर्ण युवा (ईम) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, विद्या, शुभगुण, रूप, सुशीलतादि युक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करने वाली, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है, वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) पूर्ण विद्या धन धान्य युक्त सब ओर से होवे। और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें, (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असंख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं।

अत्रिः ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः। पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चित यद्भिरर्कैः।
उषासानक्ता विदुषीव विश्व मा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम्॥ ५॥

(ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७)॥

अर्थ— हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना करने के

योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं के जानने हारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य (शूषैः) शरीरात्म बलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें, और वे (उषासा नक्ताः) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के पूर्ण व्यवहार को वे (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगत रूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण कर्म स्वभाव वाले स्त्री पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप प्रवहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं।

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या पढ़ पूर्ण युवा हो, परीक्षा करके जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करते हैं वे वेदोक्त ईश्वर आज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्यों कर न डूबेंगे? और जो पूर्वोक्त विधि पूर्वक विवाह करते कराते हैं, वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—विवाह अपने वर्ण में होना चाहिये या अन्य वर्ण में भी?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण में। परन्तु वर्ण व्यवस्था गुण कर्मानुसार होनी चाहिये, जन्म मात्र से नहीं। जो पूर्ण विद्वान्, धर्मातमा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्या भाषणादि दोष रहित, विद्या और धर्म प्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि गुण जिसमें हों, वह ब्राह्मण ब्राह्मणी। विद्या बल शौर्य न्यायकारित्वदि गुण जिसमें हों, वह क्षत्रिय, क्षत्रिया। और जो विद्वान् हो के, कृषि पशुपालन, व्यापार देशभाषाओं में चतुरता आदि गुण जिसमें हों वह वैश्य वैश्या। और जो विद्याहीन, मूर्ख हो वह शूद्र शूद्रा कहावे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिये, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैंश्या तथा शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में, आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।

इस वर्ण व्यवस्था में प्रमाण—

धर्म चर्यया जघन्यो वर्णो पूर्वं पूर्वं वर्ण मापद्यते जाति परिवृत्तौ ॥ १ ॥ *(आपस्तम्ब० प्र० २ । ५ । १० । १०)* ॥

अर्थ—धर्माचरण से नीच वर्ण, उत्तम उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो कर्त्तव्य और अधिकार रूप कर्म हैं वे सब गुण कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवे ॥ १ ॥

अधर्म चर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्ण मापद्यते जाति परिवृत्तौ ॥ २ ॥ *(आपस्तम्ब० प्र० २ । ५ । १० । ११)* ॥

अर्थ—वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें और वे ही उस वर्ण के अधिकार और कार्मों के कर्त्ता होवें ॥ २ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रिया ज्जातमेवन्तु विद्यावैश्यात्तथैव च ॥ ३ ॥

(मनु० अ० १० । श्लो० ६५) ॥

अर्थ—उत्तम गुण कर्म और स्वभाव से जो शूद्र हैं वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, औरवैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय वैश्य शूद्र, तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते। और उत्तम वर्ण भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊँ इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों को ही किया करते हैं, इससे संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्ण व्यवस्था, पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण और उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिये, जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित रहे।

परीक्षा—अब वर वधू एक दूसरे के, गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता, तथा अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध रहित होना, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, कपट, द्यूत, चोरी, मद्य, मांसादि दोषों का त्याग, तथा गृह कार्यों में चतुरता हो।

पारस्परिक व्यवहार—जब-जब प्रातः सायं वा परदेश से आकर मिलें तब-तब नमस्ते इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर स्त्री पति के चरण स्पर्श, पाद प्रक्षालन तथा आसन दान करे, दोनों परस्पर प्रेम बढ़ाने वाले वचनादि व्यवहारों से परस्पर आनन्द भोगें।

वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये।

तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा, स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें—

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्।
यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम्।
यत्सत्यं तद् दृश्यताम्॥ *(आश्वला० गृ० सू० अ० १ । कं० ५ । ५)॥*

अर्थ—जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे, पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों, परस्पर संवाद करें कि हे स्त्री वा हे पुरुष ! इस जगत् के पूर्व ऋतु, यथार्थ स्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य त्रिगुणात्मक नाश रहित प्रकृति प्रतिष्ठित है। जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब जगत् उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय में दोनों विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ, उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये दृढ़ोत्साही रहें।

विधि—जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उसमें विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री एकत्रित कर रखनी चाहिये। और यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य, तथा घृत एवम् समिधाऐं आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी आवश्यक है।

पश्चात् एक घन्टे रात्रि जाने पर—

ओम् काम वेद ते नाममदो नामासि समान यामुं सुरा़ते अभवत्। तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥ १ ॥

(सा० मं० ब्रा० प्र० खं० १। मं० १, गोभिलीय गृ० सू० २।१।१०)॥

अर्थ—हे (काम) काम ! (ते, नाम) तेरे नाम को (वेद) सब जगत् जानता है (मदः नाम असि) तू मदकारी प्रसिद्ध है (ते) तेरे लिये यह कन्या (सुरा) मद साधन सम्पन्न (अभवत्) हो चुकी है अथवा (सुरा) यह जल तेरे शान्त्यर्थ उपस्थित है (अमुम्) इस कन्या को या इस मद को या इस पति को (समानय) सम्मानित कर, हे (अग्ने) कामाग्ने ! (अव) इस स्त्री जाति में ही तेरा (परं जन्म) उत्कृष्ट जन्म है (तपसः) ग्रहस्थाश्रम पालनरूप उत्कृष्ट तप के लिये ही तुझे ईश्वर ने बनाया है।

ओम् इमं त उपस्थं मधुना संसृजामि प्रजापतेर्मुख मेतद् द्वितीयम्। तेन पुंसोभि भवासि सर्वा नवशान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा ॥ २ ॥

(सा० मं० ब्रा० प्र० खं० १। मं० २, गोभिलीय गृ० सू० २।१।१०)॥

अर्थ—हे वधू ! (इमं ते उपस्थम्) इस तेरे आनन्द जनक इन्द्रिय को (मधुना) प्रेम से (सं सृजामि) संसृष्ट करता हूँ (एतत्) यह (प्रजापतेः) ग्रहस्थी बनने का (द्वितीयंमुखम्) द्वितीय द्वार है (तेन) उससे ही (अवशान्) किसी के वश में न होने वाले भी (सर्वान् पुंसः) सब पुरुषों को (अभि भवासि) वशीभूत कर लेती है और (वशिनी) वश में करने वाली तू (राज्ञीः) घर की रानी है।

ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः ।
तेनाज्यम कृण्वँ स्त्रैश्रृङ्ग त्वाष्ट्रं त्वाय तद्दधातु स्वाहा ॥ ३ ॥

(सा० मं० ब्रा० प्र० खं० १ । मं० १०, गोभिलीय गृ० सू० २ । १ । १०) ॥

अर्थ—(गुहानाः) तत्वदर्शी (पुराणाः) प्राचीन (ऋषयः) ऋषियों ने (स्त्रीणामु) स्त्रियों की (उपस्थम्) आनन्दप्रद इन्द्रिय को (क्रव्यादम्) अपक्व मांस भोजी (अग्निं) अग्नि के तुल्य (अकृण्वन्) माना है, उसके साथ (स्त्रैश्रृङ्गम्) पुरुष के उपस्थेन्द्रिय उत्पन्न (त्वाष्ट्रम्) उत्पादक शक्ति वाले वीर्य को (आज्यम्) घृत जैसा (अकृण्वन्) माना है। हे वधू ! (त्वीय) तू (तत्) वह शुक्र (दधात्) धारण कर।

इन मन्त्रों का उच्चारण कर सुगन्धित शुद्ध जल से वर और वधू अपने-अपने स्थानों पर स्नान कर उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण कर उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे **अर्थ** सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्ति वाचन तथा शान्ति करण क मन्त्रों का पाठ करें। विवाह में आये हुए स्त्री पुरुष एकाग्र चित्त होकर इ तीनों के अनुसार अर्थ पूर्वक ईश्वर चिन्तन करें।

वर अपने सम्बन्धियों सा त वधू के घर के लिये प्रस्थान करें। वर के आने के पूर्व कन्या पक्ष के कार्यकर्त्ता आचमन तथा अङ्ग स्पर्श कर वेदी अग्न्याधन, अग्नि प्रज्ज्वलन, समिधादान, पञ्च घृताहुति तथा जल प्रसेचन यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे कर रक्खे। वर वधू के घर में प्रवेश कर पूर्वाभिमुख खड़ा रहे तथा वधू और कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहकर वधू और कार्यकर्त्ता—

ओम् साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । सू० ४) ॥

अर्थ—(भवान्) आप (साधु) अच्छे प्रकार (आस्ताम्) बैठिये (भवन्तम्) हम आपका (अर्चयिष्यामः) स्वागत करेंगे।

इस वाक्य को बोलें। उस पर वर—

ओम् अर्चय ।

अर्थ—(अर्चय) स्वागत कीजिये ।

ऐसा प्रत्युत्तर देवे । पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन तैयार कर रक्खा हो, उसको वधू हाथ में ले वर के आगे खड़ी रह कर—

ओम् विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥

(तु० पार० गृ० सू० १ । ३ । ६) ॥

अर्थ—(विष्टरः) आप यह आसन (प्रति गृह्यताम्) ग्रहण कीजिये ।

आसन वर को दे । वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ।

इस वाक्य का उच्चारण कर वर वधू के हाथ से आसन ले बिछा उस पर सभा मण्डप में पूर्वाभिमुख बैठ के वर—

**ओम् वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमन्त मभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥**

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । सू० ८) ॥

अर्थ—(उद्यताम्) प्रकाश करने वाले ग्रह नक्षत्रादि कों के मध्य में (सूर्य इव) जैसे सूर्य श्रेष्ठ है वैसे ही (समाना नाम्) कुल, ज्ञान, शील, शरीर, अवस्था तथा अन्य गुणों से सजातीय तुल्य पुरुषों में मैं (वर्ष्मः) श्रेष्ठ (अस्मि) हूँ (यः कः च) और जो कोई (मा) मुझे (अभिधासति) पराभूत करना चाहता है (तम्) उसको लक्ष्य कर मैं (इमम्) इस आसन पर (अभितिष्ठामि) बैठता हूँ ।

इस मन्त्र का उच्चारण करे । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भर के कन्या के हाथ में देवे, और कन्या—

ओम् पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

अर्थ—(पाद्यं) पैर धोने के लिये जल (प्रतिगृह्यताम्) ग्रहण कीजिये ।

इस वाक्य का उच्चारण कर जल का पात्र वर के आगे रक्खे । वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ।

अर्थ—ग्रहण करता हूँ ।

इस वाक्य का उच्चारण कर वर कन्या के हाथ से जल पूर्ण पात्र लेकर पाद प्रक्षालन करे, और उस समय वर—

ओम् विराजो दोहोऽसि विराजो दोह मशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥
(पार० कां० १ । कं० ३ । सू० १२) ॥

अर्थ—हे जल ! तू (विराजः) नाना प्रकार से शोभित होने वाले अन्न का (दोहः) सारभूत रस (असि) है (विराजो दोहम्) उस अन्न के सारभूत तुझको मैं (अशीय) व्याप्त होऊँ (विराजः दोहः) अन्न का सारभूत तू इस समय (मयि पाद्यायै) मेरे पाद प्रक्षालन के लिये है।

इस मन्त्र का उच्चारण करते हुये जल से पाद प्रक्षालन करे। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भरकर कन्या के हाथ में देवे तथा कन्या—

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥

अर्थ—(अर्घः) मुख प्रक्षालनार्थ जल ग्रहण कीजिये।

इस वाक्य का उच्चारण कर कन्या जल का पात्र वर के हाथ में देवे। तथा वर—

ओम् प्रतिग्रहृणामि ।

अर्थ—ग्रहण करता हूँ।

इस वाक्य का उच्चारण कर वर कन्या के हाथ से जल पात्र लेकर मुख प्रक्षालन करे। मुख धोकर वर—

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान्कामान वाप्नवानि ॥ १ ॥
(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । १३) ॥

अर्थ—(आपः) जल तुम (स्थः) हो (युष्माभिः) तुम से (सर्वान् कामान्) समस्त कामनाओं को (अव आप्नवानि) प्राप्त होऊँ ॥ १ ॥

ओम् समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभि गच्छत। अरिष्टा अस्माकं वीरामा परासेचिमत्पय ॥ २ ॥ *(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । १४)*

अर्थ—हे जल ! (वः) तुमको मैं (समुद्रम्) समुद्र में (प्रहिणोमि) भेजता हूँ तुम (स्वां योनिम्) अपने कारण भूत जल के (अभिगच्छत) सम्मुख जाओ (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर (अरिष्टाः) दुःख रहित हों (पयः) जल (मत्) मुझसे (मा परासेचि) दूर न हो।

इन मन्त्रों का उच्चारण करे।

यदि वैवाहिक विधि अर्ध रात्रि तक पूरा न हो सकने की संभावना हो तो वैवाहिक विधि मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे, जिससे वैवाहिक विधि मध्य रात्रि तक पूरा हो जाये।

यदि घर का प्रवेशद्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रह कर कार्य सम्पादित करें।

यदि वर ब्राह्मण वर्ण का हो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बांया पग धोवे तथा अन्य क्षत्रियादि वर्ण प्रथम बांया पग धोवे पश्चात् दाहिना पग धोवे।

वर वेदी के पश्चिम में बिछाये हुए शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे। कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उप पात्र जल से भरकर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे, उस समय कन्या—

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचनीयम् प्रतिगृह्यताम्॥

अर्थ—(आचमनीयम्) पीने के लिये जल (प्रतिगृह्यताम्) ग्रहण कीजिये।

इस वाक्य का उच्चारण करते हुए ज़ल पात्र वर के हाथ में दे। और वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि।

अर्थ—ग्रहण करता हूँ।

इस वाक्य का उच्चारण कर कन्या के हाथ से जल पात्र को लेकर सामने रख उसमें से आचमनी द्वारा दाहिने हाथ में जल जितना ऊंगलियों के मूल तक पहुँचे उतना ले के वर—

ओम् आ मागन् यशसा सँ सृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम्॥

(पार० गृ० सू० कां० १। क० ३। मं० १५)॥

अर्थ—हे जल (मा) मुझे (यशसा) यश के (अमा) साथ (आ अगन्) प्राप्त हो (तम्) आपका आश्रयण करने वाले मुझ को (वर्चसा) अपने वर्चस्व से (संसृज) युक्त करो (प्रजानाम्) मुझे प्रजाओं का (प्रियं) प्रिय करो (पशूनां) पशुओं का (अधि पतिम्) स्वामी करो (तनूनाम्) शरीर को (अरिष्टिं) पीड़ा रहित करो।

इस मन्त्र का उच्चारण कर एक आचमन करे, दूसरी बार इसी मन्त्र का उच्चारण कर दूसरा आचमन करे, तथा इसी भांति तीसरी बार मन्त्रोच्चारण पूर्वक तीसरा आचमन करे। तत्पश्चात् जल से हाथ धो ले।

मधुपर्क—बारह तोले दही में चार तोले मधु अथवा घृत मिलाने पर मधुपर्क बनता है। मधुपर्क कांस्य पात्र में ही दिया जाना चाहिये।

कार्यकर्त्ता मधुपर्क युक्त कांस्य पात्र कन्या के हाथ में देवे तथा कन्या—

ओम् मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्।

अर्थ—(मधुपर्कः) मधुपर्क (प्रतिगृह्यताम्) ग्रहण कीजिये।

ऐसी विनती वर से करे। और वर—

ओम् प्रतिगृहणामि।

अर्थ—ग्रहण करता हूँ।

इस वाक्य का उच्चारण कर, कन्या के हाथ से मधुपर्क ग्रहण करे, और उस समय वर—

ओम् मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे॥

(पार० गृ० सू० कां० १। कं० ३। १६)॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (प्रति ईक्षे) देखता हूँ।

इस वाक्य का उच्चारण कर वर मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे, तथा—

परमेष्ठी प्रजापति ऋषिः। सविता देवताः। भुरिग् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।

ओम् देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृहणामि॥

(यजु० अ० १। मं० १०, पार० गृ० सू० कां० १। कं० ३। १७)॥

अर्थ—(सवितुः) सब जगत् के उत्पत्ति कर्त्ता (देवस्य) सर्व सुखदायक परमेश्वर के (त्वा) आपके (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसार में (अश्विनौः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्यां) बल और वीर्य से (पूष्णः) तथा पुष्टि करने वाले प्राण से युक्त (हस्ताभ्याम्) हाथों से (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर मधुपर्क के पात्र को अपने वाम हस्त में लेवे और—

गोतम ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। निचृद् गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

ओम् भू र्भुव स्वः। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥

(यजु० अ० १३ । मं० २७) ॥

अर्थ—हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से (वाता) वायु (मधु) मधुर (ऋतायते) तथा सुखद बहे, (सिन्धवः) नदियां (मधु) मधुर (क्षरन्ति) तथा सुखप्रद जल से पूरित बहें, (नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां (माध्वीः सन्तु) मधुर एवम् सुखदायक हों ॥ १ ॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। मधु नक्त मुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥ *(यजु० १३ । २८) ॥*

अर्थ—हे परमात्मन् ! (नक्तम्) रात्रि तथा (उषसः) प्रभात काल (मधुः) सुखद हों (पार्थिवं रजः) पृथिवी तथा परमाणु रूपा प्रकृति (मधुमत्) सुखद हो, (द्यौः) प्रकाशमय लोक (नः) हमारे लिये (पिता) पिता के समान (मधुः अस्तु) सुखद हों ॥ २ ॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वी र्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥ *(यजु० अ० १३ । मं० २९) ॥*

अर्थ—हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से (वनस्पतिः) वनस्पति (नः) हमारे लिये (मधुमान्) सुखदायक हो, (सूर्यः) सूर्य (मधुमान्) सुखदायक (अस्तु) हो (नः) हमारे लिये (गावः) गवादि पशु (माध्वीः) सुखदायक (भवन्तु) हों ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक मधुपर्क की ओर अवलोकन करके—

ओम् नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

(पार० गृ० सू० कां० १। कं० ३। १८)

अर्थ—हे जठराग्ने ! (श्यावास्य) पीत वर्णीय मैं (नमः) तेरा सेवन करता हूँ (ते) तेरे (अन्नशने) भक्ष्य इस मधुपर्क में (यत्) जो (आविद्धं) मिला हुआ है (तत्) उसे (निष्कृन्तामि) निकालता हूँ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर दाहिने हाथ की अनामिका तथा अंगुष्ठ मधुपर्क को तीन बार बिलोवे और यदि कुछ पड़ा हो तो निकाल दे। उस मधुपर्क से वर—

ओम् वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु॥

अर्थ—(वसवः) वसुगण (त्वा) तुझे (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्द के गान पूर्वक (भक्षयन्तु) खावें।

इस मन्त्र का उच्चारण कर पूर्व दिशा में छीटें देवे।

ओम् रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु॥

अर्थ—(रुद्राः) रुद्रगण (त्वा) तुझे (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द के गान पूर्वक (भक्षयन्तु) भक्षण करें।

इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक दक्षिण दिशा में छीटे द।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा भक्षयन्तु॥

अर्थ—(आदित्याः) आदित्यगण (त्वा) तुझे (जागतेन छन्दसा) जगती छन्द के गान पूर्वक (भक्षयन्तु) भक्षण करें।

इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक पश्चिम दिशा में छीटे दे।

ओम् विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेनछन्दसा भक्षयन्तु॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) विश्वे देवगण (त्वा) तुझे (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्द के गानपूर्वक (भक्षयन्तु) भक्षण करें।

इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक उत्तर दिशा में छीटे दे।

ओम् भूतेभ्यस्त्वा परिगृहणामि॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० १। कं० २४। सू० १४, १५)॥

अर्थ—(भूतेभ्यः) समस्त प्राणी (त्वा) तुझे (परिगृह्णामि) ग्रहण करें।

इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक मधुपर्क के पात्र के मध्य भाग में से मधुपर्क लेकर तीन बार ऊपर की ओर फेंकना। तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांस्य पात्रों में रख, अपने सन्मुख तीनों पात्रों को भूमि में रखकर—

ओम् यन्मधुनो मधव्यं परमँ् रूप मन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि॥

(पार० गृ० सू० कां० १। कं० ३। २०)

अर्थ—(यत्) जो (मधुनः) सुखदायक (मधव्यं) मिष्टता युक्त (परमं रूपम्) श्रेष्ठ शोभापूर्ण (अन्नाद्यम्) अन्नवत् है (तेन) उस (मधुनः) सुखदायक (मधव्येन) माधुर्य पूर्ण (परमेण रूपेण) अति शोभास्पद (अन्नात् येन) अन्न तुल्यभक्षणीय (परमः मधव्यः) अत्यन्त मिष्ट का (अहम्) मैं (अन्नादः) भोक्ता (असानि) होऊँ।

वर इस मन्त्र का उच्चारण एक-एक बार करते हुए एक-एक पात्र से यथेच्छ मधुपर्क प्राशन करे। शेष रहे उच्छिष्ट को जल में डाल कर, शुद्ध जल से मुख तथा हाथ धो कर—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥ १॥

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥ २॥

(तु० आश्वला० गृ० सू० अ० १। कं० २४। सू० २१, २२)॥

इन दो मन्त्रों से दो आचमन अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा आचमन वर करे। तत्पश्चात् यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणेमुखादि अङ्गों का स्पर्श, वाम हस्त में जल लेकर दक्षिण हस्त की मध्यमा तथा अंगुलियों से जल का स्पर्श कर वर करे—

ओम् वाङ्म ऽ आस्येऽस्तु॥ १॥ *इससे मुख का,*

ओम् नसोर्मे प्राणोऽस्तु॥ २॥ *इस मन्त्र से नासिका छिद्रों का,*

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥ ३॥ *इस मन्त्र से दोनों नेत्रों का,*

ओम् कर्णयोमे श्रोत्रमस्तु॥ ४॥ *इस मन्त्र से दोनों कानों का,*

ओम् वाह्वोर्मे बलमस्तु॥ ५॥ *इस मन्त्र से दोनों भुजाओं का,*

ओम् ऊर्वोर्मे ऽ ओजोऽस्तु ॥ ६ ॥ *इस मन्त्र से दोनों जंघा का, तथा*

ओम् अरिष्टानिमे ऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥ ७ ॥

(तु० पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । सू० २५) ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके समस्त शरीर पर मार्जन करना। तत्पश्चात् कन्या—

ओम् गौ गौं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

अर्थ—(गौः प्रतिगृह्यताम्) गौ आदि ग्रहण कीजिये।

इस वाक्य के उच्चारणपूर्वक वर की विनती करके अपनी सामर्थ्य के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य जो कि वर के योग्य हों अर्पण करे। और वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ॥

अर्थ—(प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ।

इस वाक्य का उच्चारण कर उसको ग्रहण करे।

इस प्रकार मधुपर्कादि से यथावत् सत्कार करके वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डप से घर में ले जाकर शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठा के वर के सम्मुख पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे। यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उससे दूसरे घर वा दूसरे स्थान में वर को ले जाकर बैठावे। तथा कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठकर—

ओम् अमुक+गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नी मङ्गकृतां कन्यां प्रति गृहणातु भवान् ॥

"अमुक गोत्रोत्पन्न" पद के स्थान पर जिस गोत्र वा जिस कुल में कन्या उत्पन्न हुई हो उसका नाम उच्चारण करना तथा "अमुक नाम्नी" पद के स्थान पर कन्या का नाम द्वितीय विभक्ति के एक वचन में उच्चारण करना।

अर्थ—(अमुक गोत्रोत्पन्न) अमुक गोत्र में उत्पन्न (इमाममुक नाम्नी) यह अमुक नाम वाली (मङ्गलकृतां कन्याम्) अलङ्कृत कन्या (प्रतिगृह्णातु भवान्) आप ग्रहण कीजिये।

इस प्रकार उच्चारण करके, वर के दाहिने हाथ का चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर करके उसकी हथेली पर कन्या की दाहिनी हथेली को ऊपर हथेली रखते हुए रखना। और वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ॥

अर्थ—ग्रहण करता हूँ ॥

ऐसा वाक्य उच्चारण करने के पश्चात् कन्या को ग्रहण कर—

ओम् जरां गच्छ परिधत्स्व वासोभवा गृष्टीनामभिशस्ति पावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननु संव्ययस्वायुष्म तीदं परिधत्स्व वासः ॥ *पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ४ । १२)*

अर्थ—हे कन्ये ! तू (जराम्) मेरे साथ वृद्धावस्था को (गच्छ) प्राप्त हो और मेरे द्वारा दिये (वासः) वस्त्र को परिधत्स्व पहिन (कृष्टीनाम्) कामादिकों से आकर्षित मनुष्यों के मध्य में (वा) निश्चयपूर्वक (अभिशस्ति पा) अभिशाप से अपनी रक्षा करने वाली (भव) होओ (शतं च शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (जीव) जीवित रह कर (सुवर्चाः) वर्नस्विणी होकर (रयिं) धन और (अनु) पीछे (पुत्रान्) पुत्रों को प्राप्त हो (आयुष्मति) हे आयुष्मति ! तुम (इदं) यह (वासः) वस्त्र (परिधत्स्व) पहिनो।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर वधू को उत्तम वस्त्र देवे। तत्पश्चात्—

ओम् या अकृंतन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तनूनभितो ततन्थ। तास्ता देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ४ । १३)

अर्थ—(याः) जिनने इस वस्त्र के सूत को (अकृतन) काता है (याः) जिनने इस सूत को (अवयन्) बुना है (याः च) तथा जिनने इसके सूत को (अतन्वत) फैलाया है, जिन (देवीः) देवियों ने (तन्तून्) इस वस्त्र के सूतों को (अभितः) दोनों ओर से (ततन्थ) बुना है (ताः देवीः) वे देवियां (त्वा) तुम्हारे लियें (जरसा) वृद्धावस्था पर्यन्त ऐसे ही वस्त्र (संव्ययस्व) पहनाती रहें (इदं वासः) तुम यह वस्त्र (परिधत्स्व) पहिनो।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर वधू को उप वस्त्र देवे। इन वस्त्रों को लेकर वधू दूसरे घर में जाकर एकान्त में उन्हीं वस्त्रों को धारण करे, तथा उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।

ओम् परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरष्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरुची रायस्पोषमभि संव्ययिष्ये॥

पार० गृ० सू० कां० २। कं० ६। २१)

अर्थ—(परिधास्यै) शरीर को आच्छादित करने के लिये (यशोधास्यै) यशस्वी होने के लिये (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन प्राप्ति के लिये (रायः पोषम्) धन द्वारा पोषण के लिये इन उत्तम वस्त्रों को (अभि संव्ययिष्टो) भली भांति धारण करूँगा (पुरुची) विपुल धनादि सम्पन्न होकर (जरदष्टिः अस्मि) वृद्धावस्था पर्यन्त जीवन की इच्छा रखता हूँ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर अधोवस्त्र धारण करे। तथा—

ओम् यशसा मा द्यावा पृथिवी यशसेन्द्रा बृहस्पती।
यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥

पार० गृ० सू० कां० २। कं० ६। २१)

अर्थ—(द्यावा पृथिवी) द्यौ तथा पृथिवी (मा) मुझे (यशसा) यशस्वी करें (च) तथा (भगः) भग मुझे (यशः) यश (अविन्दत्) प्राप्ति करायें (मा) मुझे (यशः) यश (प्रतिपद्यताम्) प्राप्त हो।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर दुपट्टा धारण करे।

इस प्रकार वधू वस्त्रादि धारण करके तैयार हो तब तक कार्यकर्त्ता अथवा अन्य कोई यज्ञ मण्डप में जा कुण्ड के चारो ओर उत्तम आसन आदि बिछा, समिधा, घृत तथा सामग्री आदि विषयक एकत्रित कर रख, यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे यज्ञ कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे। आहुति के लिये केशर व कस्तूरी आदि सुगन्ध डाला हुआ घृत पात्र में करके, गरम करके कांस्य पात्र में रख यज्ञ के समीप पश्चिम में रक्खे तथा स्रुवादि यज्ञ पात्र एवम् जल से पूर्ण जलपात्रादि सब सामग्री यज्ञ कुण्ड के समीप तैयार रक्खे।

वर पक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) कर कुण्ड के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख हो, कलश स्थापन अर्थात् भूमि पर अपने आगे रख, जब तक वैवाहिक कृत्य पूर्ण न हो जाय तब तक उत्तराभिमुख शान्त बैठा रहे।

उसी भांति वर पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेकर कुण्ड के दक्षिण में कार्य समाप्ति पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे।

इसी भांति वधू का सहोदर भाई अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र अथवा मौसी का लड़का, चावल व ज्वार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते, इन दोनों को मिला कर शमीयुक्त धाणी की चार अञ्जलि चर्म रहित शुद्ध सूप में रख के धाणी सहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख शान्त बैठा रहे।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाट सुन्दर पत्थर की चिकनी शिला तथा वधू और वर के बैठने के लिये दो कुशासन, वायज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के आसन जो कि प्रथम से बना रक्खे हों यज्ञकुण्ड के पश्चिम में रखवावे।

तत्पश्चात् वस्त्रालङ्कार से सुशोभित कन्या को वर के सम्मुख लावे और उस समय वर और कन्या—

ओम् सम॑ञ्जन्तु विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृदया॑नि नौ।
सं मा॑त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता समु॒ देष्ट्री॑ दधातु नौ॥ १॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४०, पार० गृ० सू० १ । ४ । १४)

अर्थ—हे (विश्वे देवाः) हे विद्वानों ! (समञ्जन्तु) आप लोग निश्चित रूप में जानें कि, प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में रहने के लिये एक दूसरे को स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे (हृदय) हृदय (आपः) पवित्र जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुये रहेंगे (मात्तरिश्वा) प्राणवायु जैसे हमको प्रिय है वैसे (सम्) परस्पर प्रिय रहेंगे, (धाता) जैसे परमात्मा सबको धारण करता है वैसे हम (सम्) एक दूसरे को धारण करेंगे (समु देष्ट्री) जैसे उपदेशक श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे ही (नौ) हम परस्पर प्रीति करें॥ १॥

इस मन्त्र को बोलें ।

तत्पश्चात् वर अपने दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़ कर—

ओम् यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा ।
हिरण्य पर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु असौ ॥ २ ॥

पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ४ । १५) ॥

अर्थ—हे वरानने ! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यवर्णः वैकर्ण) दीप्तिमान् किरणों वाला सूर्य (दूरं) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) समस्त दिशाओं को प्राप्त होता है, तद्वत् तू स्वेच्छा से मुझको प्राप्त होती है, उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन् मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) रक्खे और हे वीर ! जो आप मन से मुझको (ऐषि) प्राप्त होओ आपको जगदीश्वर सदा मेरे मन के अनुकूल रक्खे ॥ २ ॥

असौ पद के स्थान पर कन्या के नाम का उच्चारण करना ।

वर इस मन्त्र का उच्चारण कर कन्या को साथ लेकर मण्डप स्थान में कुण्ड के समीप कन्या का हाथ पकड़े हुये आवे । तथा वर—

ओम् भू र्भुवः स्वः । अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीर सूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ३ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४४) ॥

अर्थ—हे वरानने ! (अपतिध्नि) पति से विरोध न करने वाली तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षक (भूः) प्राणदाता (भुवः) दुःख निवारक (स्वः) सुख स्वरूप आदि अनेक नाम हैं उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोर चक्षुः) प्रिय दृष्टि वाली (ऐधि) हो, (शिवा) मङ्गल करने वाली (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्र अन्तःकरण युक्त प्रसन्न चित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण कर्म स्वभाव और विद्या से प्रकाशित (वीर सूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्तम करने वाली (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई (स्योनाः)

सुख युक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुखदायक (भव) हो, और (चतुष्पदे) गवादि पशुओं को भी (शम्) सुख देने वाली हो॥ ३॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न उरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहरामशेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्टयै॥

(पार० गृ० सू० १।४।१६)॥

अर्थ—(सा पूषा) वह, जगत् का पोषक परमात्मा (नः) हमारे प्रति (शिवतमाम्) अत्यन्त कल्याणकारिणी तुम्हें (ऐरय) प्रवृत्त करे जिससे कि (सा) वह (नः) हमारे लिये (उशती) सुखादि की इच्छा करती हुई (ऊरू विहरः) स्वयं आनन्द को प्राप्त हो (यस्याम् उ) जिस स्त्री में ही (बहवः कामाः) बहुत से धर्म, पुत्र, स्त्री भोग आदि विषय, (निविष्टयै) एवम् अग्निहोत्रादि, अन्तःकरण शुद्धि तथा वैराग्य के लिये होते हैं।

इन मन्त्रों का उच्चारण कर वर तथा वधू यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में बिछे हुये आसनों पर बैठें। वधू वर के दक्षिण भाग में बैठे। बैठने के पश्चात् वधू—

ओम् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पति लोकं गमेयम्॥ (मं० ब्रा० १।१।८)॥

अर्थ—(मे) मेरे (पतियानः) पति का मार्ग ही मेरा भी (पंथाः) मार्ग (प्र कल्पताꣳ) बने, जिससे मैं (शिवा) सुख पाती हुई (अरिष्टा) निर्विघ्न रूप से (पतिलोकम्) पति गृह को (गमेयम्) प्राप्त होऊं।

इस मन्त्र का उच्चारण करे।

तत्पश्चात् यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे पुरोहित का वरण कर, यज्ञ कुण्ड के समीप दक्षिण भाग में पुरोहित की स्थाना करनी। तत्पश्चात्—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥ १॥ *इससे एक,*

ओम् अमृतापिधान मसि स्वाहा॥ २॥ *इससे दूसरा,*

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥ ३॥ इससे तीसरा

इससे तीसरा आचमन, वर, वधू, पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, स्वच्छ जल से मुख तथा हस्त प्रक्षालन करके वाम हथेली में जल लेकर दक्षिण हस्त की मध्यमा तथा अंगुलियों से जल का स्पर्श कर मुखादि अङ्गों का स्पर्श करें—

ओम् वाङ्मऽ आस्ये ऽस्तु ॥ १ ॥ *इस मन्त्र से मुख का स्पर्श करें।*

ओम् नसोर्मे प्राणो ऽस्तु ॥ २ ॥

इस मन्त्र से नासिका छिद्रों का स्पर्श करें।

ओम् अक्षणोर्मे चक्षुरस्तु ॥ ३ ॥ *इस मन्त्र से दोनों नेत्रों का स्पर्श करें।*

ओम् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ ४ ॥

इस मन्त्र से दोनों कानों का स्पर्श करें।

ओम् वाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ ५ ॥ *इस मन्त्र से दोनों बाहुओं का स्पर्श करें।*

ओम् ऊर्वोर्म ऽ ओजो ऽस्तु ॥ ६ ॥

इस मन्त्र से दोनों जंघाओं का स्पर्श करें।

ओम् अरिष्टानि मे ऽङ्गानि तनूस्तन्वा में सह सन्तु ॥ ७ ॥

इस मन्त्र से जल का स्पर्श कर शरीर पर मार्जन करना। तत्पश्चात्—

घृत का दीपक—

ओम् भूर्भुवः स्वः ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर जला, पात्र में थोड़ी सी समिधाऐं रख, दीपक से कपूर जला समिधाओं को भली भांति प्रज्ज्वलित कर—

ओम् भुर्भुवः स्वद्यौरि व भूम्ना पृथिवीव व्वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवी देव यजनि पृष्ठे ऽग्नि मन्नादमन्ना द्यायादधे ॥ १ ॥

(यजु० अ० ३ । मं० ४) ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर यज्ञ कुण्ड में पूर्व रक्खी हुई समिधाओं में अग्न्याधान करे। यदि यज्ञ वेदि में अग्नि पूर्व स्थापित हो तो अग्न्याधान न कर—

ओम् उदबुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सं सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ २ ॥
(यजु० अ० १५ । मं० ५४)॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर अग्नि प्रदीप्त करे। अग्नि के भली भांति प्रज्जवलित होने पर, चन्दन वा पलाशादि की भली भांति घृत में सिञ्चित तीन-तीन समिधाऐं वर तथा वधू—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसे नान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ १ ॥
इदमग्नये जातवेदसे-इदन्नमम ॥ १ ॥
(आश्वला० गृ० सू० १ । १० । १२)॥

इस मन्त्र से प्रथम समिधा,

ओम् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैबोधयता तिथिम्।
आस्मिन हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ २ ॥
(यजु० ३ । १)॥

इस मन्त्र से तथा—

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे-इदन्नमम ॥ ३ ॥
(यजुर्वेद, ३ । २)॥

इस मन्त्र से द्वितीय, समिधा चढ़ावे।

तन्त्वा समिद्भि रङ्गिरो घृतेन वर्द्धया मसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य, स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे-इदन्नमम ॥ ३ ॥
(यजु० ३ । ३)॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें। तत्पश्चात् वर तथा वधू—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्चसे नान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥
इदमग्नये जातवेदसे-इदन्नमम ॥
(आश्वला० गृ० सू० १ । १० । १२)॥

इस मन्त्र से घृत की पांच आहुति देकर—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ १ ॥

इस मन्त्र से पूर्व में उत्तर से दक्षिण को जल छिड़कावें ।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ २ ॥

इस मन्त्र से पश्चिम में दक्षिण से उत्तर को जल छिड़कावें ।

ओम् सरस्वत्यनुमन्य स्व ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से उत्तर में पश्चिम से पूर्व को जल छिड़कावें ।

ओम् देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ ४ ॥
(यजु० अ० ३० । मं० १) ॥

इस मन्त्र से दक्षिण से आरम्भ कर वेदी के चारो ओर जल छिड़कावे । तत्पश्चात् वर तथा वधू "आघारावाज्याहुती" घृत की—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग में, अग्नि में,

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदम् सोमाय-इदन्नमम ॥ २ ॥

(गोभिलीय गृ० सू० १ । ८ । ३, ४) ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्ज्वलित समिधाओं पर आहुति दें । तत्पश्चात् आज्यभागाहुती—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम ॥ ३ ॥

(तु० कात्यायन श्रौ० सू० अ० ३ । सू० १२) ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्नमम ॥ ४ ॥

(कात्यायन श्रौ० सू० अ० ३ । सू० १९) ॥

इन दो मन्त्रों से वेदी के मध्य में अग्नि में दो आहुति देवें ।

घृत पात्र में से स्रुवा को भर कर अंगूठा मध्यमा तथा अनामिका से स्रुवा पकड़ कर घृताहुति देनी चाहिये ।

ओम् भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

ओम् भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्नमम ॥ २ ॥

ओम् स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

ओम् भूभुर्वः स्वरग्निवाय्यवादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि वाय्यवादित्येभ्यः-इदन्नमम ॥ ४ ॥ *(गो० गृ० सू० १ । ८ । १५) ॥*

इन चार मन्त्रों से घृत की चार व्याहृति आहुति देकर—

ओम् त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽवया सिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमु मुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥
इदमग्नि वरुणाभ्यां-इदन्नमम ॥ १ ॥ *(ऋ० मं० ४ । सू० १ । मं० ४) ॥*

ओम् स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अव यक्ष्च नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥
इदमग्नि वरुणाभ्यां-इदन्नमम ॥ २ ॥
(ऋ० मं० ४ । सू० २५ । मं० १९) ॥

ओम् इमं मे वरुणश्रुधी हवमद्या च मृडय ।
त्वामवस्युरा चके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय-इदन्नमम ॥ ३ ॥
(ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९) ॥

ओम् तत्त्वा यामि ब्रह्मणावन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेळमानो वरुणेह वोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय-इदन्नमम ॥ ४ ॥ *(ऋ० मं० १ । सू० २४ । ११) ॥*

ओम् ये ते शतं वरुण ये सहस्त्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः ।
तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ॥
इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो मरुद्भयः स्वर्केभ्यः-इदन्नमम ॥ ५ ॥

ओम् अयाश्चाग्ने ऽस्य नंभिशस्तिपाश्च सत्य मित्त्व मयासि ।
अया नो यज्ञं वह स्यया नो धेहि भेषज ँ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे-इदन्नमम ॥ ६ ॥

(क़ात्या० श्रौ० सू० २५ । सू० ११, देखिये पार० गृ० सू० १ । २ । ८) ॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणाया ऽऽदित्याया ऽदितये च-इदन्नमम॥

(ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५)॥ ७॥

ओम् भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञँ् हिँ् सिष्टं मा यज्ञ पतिं जातवेदसौशिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्यां-इदन्नमम॥ ८॥ *(य० अ० ५। मं० ३)॥*

अष्टाज्याहुति दें। अर्थात् सब मिलकर सोलह आहुति देकर प्रधान होम प्रारम्भ करें। प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के कन्धे का स्पर्श करके—

ओम् भू र्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय-इदन्नमम॥ १॥

(यजुर्वेद अ० १९। मं० ३८)॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। अग्नि ऋषि पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय-इदन्नमम॥ २॥

(तु० य० अ० २६। मं० ९)॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय-इदन्नमम॥ ३॥

(ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९, २०, २१)॥

ओम् भू र्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहूमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयोरयीणाम् स्वाहा॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम॥ ४॥

(ऋ० मं० १०। सूं० १२१। मं० १०, तुलना य० अ० २३। मं० ६५)॥

इन चार मन्त्रों से प्रधान होम की चार घृताहुति क्रमशः देकर—

ओम् भू र्भुवः स्वः । त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं विभर्षि ।

अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्य द्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥

अर्थ—हे (स्वधावन्) हव्याग्नि के सम्पादक परमात्मन् ! (यत् त्वम्) जो तू (कनीनाम्) कन्यादिकों का भी नियामक (भवसि) है और तू जगत् (गुह्यं विभर्षि) की गुप्त रूप से रक्षा करने वाला है यह (नाम) विद्वानों को विदित है (यत्) जिन (दम्पती) पति पत्नी को तू (समनसा) समान चित्त वाला (कृणोषि) करता है वे (मित्रं न) मित्र की भांति (सुधितं) भली भांति सुपोषक आपको (गोभि) गौ द्वारा प्राप्त घृत दुग्धादि पदार्थों से यज्ञ द्वारा आपका (अञ्जन्ति) पूजन करते हैं ।

इस मन्त्र से पांचवीं आज्याहुति दें । तत्पश्चात् राष्ट्रभृत होम की बारह आज्याहुतियां—

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृतासाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय-इदन्नमम ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि प्राकृत (ऋताषाड्) परिवर्त्तन परक प्राकृत नियमों को सहने वाला (ऋतधामा) मर्यादित रूप में पदार्थों में विद्यमान है, वह (गन्धर्वः) पृथिवी को गतिशील बनाता है, (स) वह (न) हमारे लिये (इदम्) इन (ब्रह्म) ज्ञानियों तथा (क्षत्रं) कर्मठों की (पातु) रक्षा करे, (वाट्) गृहस्थ परक व्यवहारों की सिद्धि (तस्मै) के लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ (इदम् ऋतासाहे) ऋत के पालक (ऋतधाम्ने) ऋत के धारक (गन्धर्वः) गतिदाता (अग्नये) अग्नि के लिये है-(इदं न मम) मेरे लिये नहीं ॥ १ ॥

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयो ऽप्सरसो मुदो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्यो ऽप्सरोभ्यो मुद्भयः-इदन्नमम ॥ २ ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि (ऋताषाड्) मर्यादित रूप में विद्यमान (ऋतधामा) मर्यादा में रहने वाला (गन्धर्वः) गति देने वाला है, (तस्य) उसके (ओषधयः)

ओषधियों तथा (अप्सरसः) सरिताओं को (मुदो नाम) आनन्ददायक प्रसिद्ध स्वरूप (ताभ्यः) के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह ओषधि तथा आनन्ददायक सरिताओं के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

ओम् स ँ् हितो विश्व सामा सूर्यो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्र पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं स ँ् हिताय विश्व साम्ने सूर्याय गन्धर्वाय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

अर्थ—(स ँ् हितः) दिन और रात्रि की सन्धि का हेतु (विश्व सामा) विश्व को शान्दिदायक (सूर्यः) सूर्य (गन्धर्वः) गतिशील है (स न) वह हमारे लिये (ब्रह्म) विद्वानों तथा (क्षत्रं) रक्षादि में नियुक्तों की (पातु) रक्षा करे (वाट्) गृहस्थ के (ताभ्यः) कल्याण हेतु यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह दिन और रात्रि के सन्धि के हेतु शान्तिदायक गतिशील सूर्य के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

ओम् स ँ् हितो विश्व सामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयो ऽप्सरस आयुवो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं मरीचिभ्यो ऽप्सरोभ्यो आयुभ्य-इदन्नमम ॥ ४ ॥

अर्थ—(सँ् हितः) सम्यक प्रकार दिन और रात्रि को उत्पन्न करने वाला (विश्व सामा) विश्व को शान्तिदायक (सूर्यः) सूर्य ही (गन्धर्वः) गति देता है (तस्य) उसकी (मरीचयः) मरीचि संज्ञक प्रकाशमय (अप्सरसः) किरणें (आयुवः) आयुवृद्धि कारक (नाम) प्रसिद्ध हैं (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह मरीचि संज्ञक सूर्य किरणों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ४ ॥

ओम् सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय-इदन्नमम ॥ ५ ॥

अर्थ—(सुषुम्णः) सुखदायक (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों को (चन्द्रमा गन्धर्वः) चन्द्रमा धारण करता है, (स न) वह हमारे (ब्रह्म) ज्ञान और (क्षत्रं) पराक्रम की (पातु) रक्षा करे (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह सुखदायक सूर्य रश्मियों तथा चन्द्रमा के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ५ ॥

ओम् सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं नक्षत्रेभ्यो ऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः-इदन्नमम ॥ ६ ॥

अर्थ—(सुषुम्णः) सुखदायक (सूर्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों का (चन्द्रमा गन्धर्वः) धारक चन्द्रमा (नक्षत्राणि) नक्षत्रों को (अप्सरसः) किरणों के द्वारा (भेकुरयः नाम) प्रकाशित करने वाला प्रसिद्ध है, (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह नक्षत्रों के किरणों द्वारा प्रकाशित होने के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ६ ॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स नं इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदामिषिराय विश्व व्यचसे वाताय गन्धर्वाय-इदन्नमम ॥ ७ ॥

अर्थ—(इषिरः) गमनशील (विश्व व्यचा) सर्वत्र व्याप्त (गन्धर्वः) सब को धारण करने वाला (वातः) प्राण वायु है, (स न) वह हमारे (इदम्) इस (ब्रह्म क्षत्रं) ज्ञान तथा पराक्रम की (पातु) रक्षा करे (ताभ्यः) इस हेतु (वाट्) गृहस्थ के लिये (स्वाहा) यह सुहुत है ॥ यह गतिशील, सर्वत्र व्यापक प्रांण वायु के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ७ ॥

ओम् इषिरो विश्व व्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमद्भ्यो ऽप्सरोभ्य ऊर्भ्यः-इदन्नमम ॥ ८ ॥

अर्थ—(विश्व व्यचा) सर्वत्र व्यापक (इषिरः) गमनशील (वातः) प्राणवायु (गन्धर्वः) सबके जीवन का हेतु है (तस्य) उसके (ऊर्ज्जः) तेज अथवा ओज (अप्सरस) का संवाहक (आपः नाम) जल प्रसिद्ध है, (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह ऊर्ज्जावाहक जल के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ८ ॥

ओम् भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स नं इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं दक्षिणाभ्यो ऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः-इदन्नमम ॥ ९ ॥

अर्थ—(भुज्युः) ग्रहण करने वाला (सुपर्णः) शोभादायक प्रक्रियाओं से युक्त (यज्ञः) यज्ञ (गन्धर्वः) ज्ञान का धारक वा प्रेरक है, (स न) वह हमारे (इदं) इस

(ब्रह्म) ज्ञान और (क्षत्रं) पराक्रम की (वाट्) गृहस्थ के लिये (पातु) रक्षा करे (ताभ्यः) उसके लिये (स्वाहा) यह सुहुत है ॥ यह ग्रहणकर्त्ता, अत्यन्त शोभन, यज्ञ तथा यज्ञ के प्रस्तोता के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ९ ॥

ओम् भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्यो ऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः-इदन्नमम ॥ १० ॥

अर्थ—(यज्ञः) यज्ञ (भुज्युः) भोक्ता (सुपर्णः) यज्ञमान तथा ऋत्विजों से शोभास्पद (गन्धर्वः) ज्ञान का धारक है (तावा) उसका (दक्षिणा) दक्षिणा (अप्सरस) यश का प्रसारक है, (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह दक्षिणा द्वारा यश के प्रसार तथा प्रस्तोता के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १० ॥

ओम् प्रजापति विश्व कर्मा मनो गन्धर्वः । स नं इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्व कर्म्मणे मनसे गन्धर्वाय-इदन्नमम ॥ ११ ॥

अर्थ—(मनः) मन ही (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (विश्व कर्मा) समस्त कर्मों का प्रणेता (गन्धर्वः) सबका धारण कर्त्ता है (स न) वह हमारे (इदं) इस (ब्रह्म) ज्ञान तथा (क्षत्रं) पराक्रम की (वाट्) गृहस्थ के लिये (पातु) रक्षा करे (तस्मैः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह प्रजापति विश्वकर्मा तथा ज्ञान के धारक मन के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ११ ॥

ओम् प्रजापति विश्वकर्म्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्यो ऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः-इदन्नमम ॥ १२ ॥

(तुलना, य० अ० १८ । मं० ३८—४३) ॥

अर्थ—(मनः) मन ही (गन्धर्वः) सबका प्रेरक (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (विश्वकर्मा) समस्त कर्मों का प्रणेता (एष्टयः) यज्ञों के द्वारा (ऋक् सामानि) ऋग्वेद तथा सामवेद आदि वेदों के ज्ञान का (अप्सरस) प्रसारक (नाम) प्रसिद्ध है, (ताभ्यः) उसके लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ यह ऋक् तथा सामवेद के ज्ञान के प्रसारक इष्टियों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १२ ॥

इन मन्त्रों से देकर तत्पश्चात् "जया" होम करना—

ओम् चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय-इदन्नमम ॥ १ ॥

अर्थ—चित्त के लिये यह सुहुत है॥ यह चित्त के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १ ॥

ओम् चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै-इदन्नमम ॥ २ ॥

अर्थ—चित्त की शक्ति के लिये यह सुहुत है ॥ यह चित्त की सामर्थ्य के लिय है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

अर्थ—कर्मेन्द्रियों के लिये यह सुहुत है ॥ यह कर्मेन्द्रियों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

ओम् आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै-इदन्नमम ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्मेन्द्रियों की सामर्थ्य के लिये सुहुत है ॥ यह कर्मेन्द्रियों की सामर्थ्य के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ४ ॥

ओम् विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय-इदन्नमम ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञानेन्द्रियों के लिये सुहुत है ॥ यह ज्ञानेन्द्रियों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ५ ॥

ओम् विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै-इदन्नमम ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य के लिये सुहुत है ॥ यह ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ६ ॥

ओम् मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे-इदन्नमम ॥ ७ ॥

अर्थ—मन के लिये सुहुत है ॥ यह मन के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ७ ॥

ओम् शक्करीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्करीभ्यः-इदन्नमम ॥ ८ ॥

अर्थ—यह मन की सामर्थ्य रूपी सङ्कल्प शक्ति के लिये सुहुत है ॥ यह मन की सामर्थ्य के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ८ ॥

ओम् दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय-इदन्नमम ॥ ९ ॥

अर्थ—दर्श (अमावस्या) के लिये सुहुत है॥ यह दर्श के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ९॥

ओम् पौर्णमासं च स्वाहा॥ इदं पौर्णमासाय-इदन्नमम॥ १०॥

अर्थ—पौर्णमासी के लिये सुहुत है॥ यह पौर्णमासी के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १०॥

ओम् बृहच्च स्वाहा॥ इदं बृहते-इदन्नमम॥ ११॥

अर्थ—बृहत् साम के लिये सुहुत है॥ यह बृहत् साम के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ११॥

ओम् रथन्तरञ्च स्वाहा॥ इदं रथन्तराय-इदन्नमम॥ १२॥

अर्थ—रथन्तर साम के लिये सुहुत है॥ यह रथन्तर साम के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १२॥

ओम् प्रजापतिर्जयानिद्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय-इदन्नमम॥ १३॥

(तु०, पार० गृ० सू० १।५।९)॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजापति रूप परमात्मा ने (पृतना) शत्रु सेनाओं पर (जयेषु) विजय पाने के लिये (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (उग्रः) तेजस्वी (वृष्णः) यज्ञादि द्वारा अभीष्ट सिद्धि देने वाले साधनों को (जयाय) सिद्धि प्राप्त्यर्थ (प्र अयच्छत्) भली भांति पूर्व से ही दे रक्खा है (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजा (सम् अनमन्तः) भली भांति प्रणाम् करती है (स उग्रः) वह तेजस्वी है (स) वह (इ हव्यः) इस हवि के द्वारा पूज्य (बभूव) होता है उसके लिये (स्वाहा) सुहुत है॥ यह प्रजापति तथा जयशील इन्द्र के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १३॥

इन तेरह मन्त्रों से जया होम की तेरह आज्याहुति देकर तत्पश्चात् "अभ्यातन" होम करना—

ओम् अग्नि र्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्य स्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये-इदन्नमम ।' १ ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि (भूतानां) प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी है (स) वह (मात्) मेरी (अवतु) रक्षा करे (अस्मिन्) हमारे (ब्रह्मणि) विद्वानों तथा (अस्मिन्) हमारे (क्षत्रे) वीरों के मध्य में (अस्याम्) इस (आशिषि) प्रार्थना में (अस्याम्) इस (पुरोधायाम्) विवाह हेतु विद्यमान् कन्या के विषय में (अस्मिन् कर्मणि) इस हवनादि कर्म में (अस्याम् देवहूत्यां) तथा विद्वानों के आह्वान में रक्षा करें ॥ १ ॥ यह भूतों के अधिपति अग्नि के लिये है—मेरे लिए नहीं ।

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये-इदन्नमम ॥ २ ॥

अर्थ—(इन्द्र ज्येष्ठानामधिपतिः) ज्येष्ठों का अधिपति इन्द्र है, वह मेरी रक्षा करे, हमारे ब्राह्मण समूह में तथा क्षत्रिय समूह में, इस प्रार्थना में, विवाहार्थ बैठी हुई इस कन्या के वैवाहिक कृत्य में तथा विद्वानों के आह्वान के लिये यह सुहुत है ॥ यह ज्येष्ठों में अधिपति इन्द्र के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

ओम् यमः पृथिव्या अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये-इदन्नमम ॥ ३ ॥

अर्थ—(यमः) यम (पृथिव्या) पृथिवी का (अधिपतिः) अधिपति है, वह हमारी रक्षा करे, हमारे ब्राह्मण समूह में तथा क्षत्रिय समूह में, इस प्रार्थना में, विवाहार्थ बैठी हुई इस कन्या के वैवाहिक कृत्य में तथा विद्वानों के आह्वान के लिये यह सुहुत है ॥ यह पृथिव्याधिपति यम के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

ओम् वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये-इदन्नमम ॥ ४ ॥

अर्थ—(वायुः) वायु (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष का (अधिपतिः) अधिपति है, वह हमारी रक्षा करे, हमारे ब्राह्मण समूह में, हमारे क्षत्रिय समूह में इस प्रार्थना में, विवाहार्थ बैठी हुई इस कन्या के वैवाहिक कृत्य में तथा विद्वानों के आह्वान के लिये रक्षा करे। उसके लिये यह सुहुत है॥ यह अन्तरिक्षाधिपति वायु के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ४॥

ओम् सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳪ स्वाहा॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये-इदन्नमम॥ ५॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य (दिवो ऽधपतिः) द्यौ लोक का अधिपति है वह हमारे ब्राह्मण मण्डल तथा क्षत्रिय मण्डल में, अभीष्ट सिद्धयर्थ इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या एवम् वैवाहिक कृत्य में, इस उपस्थित विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे। इसके लिये यह सुहुत है॥ यह द्यौ लोकाधिपति सूर्य के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ५॥

ओम् चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳪ स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये-इदन्नमम॥ ६॥

अर्थ—(चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणाम् अधिपतिः) नक्षत्र मण्डल का अधिपति है वह हमारे ब्राह्मण मण्डल तथा क्षत्रिय मण्डल में, अभीष्ट सिद्धयर्थ इस प्रार्थना में विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्मण्डल में मेरी रक्षा करे। इसके लिये यह सुहुत है॥ यह नक्षत्र मण्डल के अधिपति चन्द्रमा के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ६॥

ओम् बृहस्पतिर्ब्रह्मणो ऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳪ स्वाहा॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोधिपतये-इदन्नमम॥ ७॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति (ब्रह्मणः अधिपतिः) वेद का स्वामी है वह हमारे ब्राह्मण मण्डल तथा क्षत्रिय मण्डल में, अभीष्ट सिद्धयर्थ इस प्रार्थना में विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे वैवाहिक कृत्य में तथा

विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे। इसके लिये यह सुहुत है॥ यह ब्रह्मणोऽधिपति बृहस्पति के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ७॥

ओम् मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬस्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये-इदन्नमम॥ ८॥

अर्थ—(मित्रः) मित्र (सत्यानामधिपतिः) सत्य का अधिपति है वह हमारे ब्राह्मण समाज में तथा क्षत्रिय समाज में, अभीष्ट सिद्धयर्थ इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे वैवाहिक कृत्य में तथा विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह सत्य के अधिपति मित्र के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ८।

ओम् वरुणो ऽपामाधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬस्वाहा॥ इदं वरुणो ऽपामधिपतये-इदन्नमम॥ ९॥

अर्थ—(वरुणः) वरुण (अपाम् अधिपतिः) जलों का अधिपति है वह हमारे ब्राह्मण समाज में तथा क्षत्रिय समाज में, अभीष्ट सिद्धयर्थ इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे वैवाहिक कृत्य में, विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह जलों के अधिपति वरुण के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ९॥

ओम् समुद्रः स्त्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬस्वाहा॥ इदं समुद्राय स्त्रोत्यानामधिपतये-इदन्नमम॥ १०॥

अर्थ—(समुद्रः) समुद्र (स्त्रोत्यानाम् अधिपतिः) बहते हुये जलों अर्थात् सरितादि का अधिपति है, वह हमारे ब्राह्मण समूह में तथा क्षत्रिय समूह में इस प्रार्थना में, तथा विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह स्त्रोतों के अधिपति समुद्र के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १०॥

ओम् अन्नँ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदमन्नाय साम्राज्या नामधिपतये-इदन्नमम॥ ११॥

अर्थ—(अन्नम्) अन्न (साम्राज्यानाम अधिपतिः) साम्राज्यों का अधिपति है, वह हमारे ब्राह्मण समूह में, क्षत्रिय समूह में, इस प्रार्थना में, तथा विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह साम्राज्याधिपति अन्न के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ११॥

ओम् सोम ओषधी नामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामाधिपतये-इदन्नमम॥ १२॥

अर्थ—(सोम) सोम (ओषधीनाम् अधिपतिः) ओषधियों का अधिपति है, वह हमारे ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, इस प्रार्थना में, तथा विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह साम्राज्यों के अधिपति अन्न के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १२॥

ओम् सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रे ऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये-इदन्नमम॥ १३॥

अर्थ—(सविता) सविता (प्रसवानाम् अधिपतिः) प्रसव कर्त्ताओं का अधिपति है वह हमारे इस ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, इस प्रार्थना में, तथा विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे। इसके लिये यह सुहुत है॥ यह प्रसव कर्त्ताओं के अधिपति सविता के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १३॥

ओम् रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये-इदन्नमम ॥ १४ ॥

अर्थ—(रुद्रः) रुद्र (पशूनाम् अधिपतिः) पशुओं का अधिपति है, वह हमारे ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये यह सुहुत है॥ यह पशुओं के अधिपति रुद्र के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १४॥

ओम् त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये-इदन्नमम ॥ १५ ॥

अर्थ—(त्वष्टा) त्वष्टा (रूपाणाम् अधिपतिः) रूपकारों अर्थात् शिल्पियों का अधिपति है वह इस ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये सुहुत है॥ यह रूपकारों के अधिपति त्वष्टा के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १५॥

ओम् विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये-इदन्नमम ॥ १६ ॥

अर्थ—(विष्णुः) विष्णु (पर्वतानाम् अधिपतिः) पर्वतों का अधिपति है वह इस ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे, इसके लिये सुहुत है॥ यह पर्वताधिपति विष्णु के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १६॥

ओम् मरुतो गणानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं मरूद्भ्योगणानामधिपतिभ्यः-इदन्नमम ॥ १७ ॥

अर्थ—(मरुतः) मरुत (गणानाम् अधिपति) गणों अर्थात् सैन्य बलों का अधिपति है वह इस ब्राह्मण समूह में, क्षत्रिय समूह में, अभीष्ट सिद्धयर्थ की जा रही इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करे । इसके लिये सुहुत है ॥ यह गणों के अधिपति मरुत के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १७ ॥

ओम् पितरः पितामहाः परेऽवरे ततस्तता महा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्या माशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬस्वाहा ॥ इदं पितृभ्य पितामेहभ्यः परेभ्यो ऽवरेभ्यस्ततेभ्य स्तता महेभ्यश्च-इदन्नमम ॥ १८ ॥

अर्थ—(पितरः) माता पिता चाचा चाची आदि (पितामहाः) दादा दादी, नाना नानी आदि (परे) दूर के (अवरे) समीप के (तताः) इनके सम्बन्धी आदि (ततामहाः) उनके भी सम्बन्धी आदि ये सव इस ब्राह्मण समाज में, क्षत्रिय समाज में, अभीष्ट सिद्धयर्थ की गयी इस प्रार्थना में, विवाहार्थ उपस्थित इस कन्या तथा इसके लिये किये जा रहे इस वैवाहिक कृत्य में, इस विद्वत्समाज में मेरी रक्षा करें । इसके लिये सुहुत है ॥ यह पितर, पितामह उनके समीपी तथा दूरस्थ सम्बन्धियों एवम् उनके भी समीपी तथा दूरस्थ सम्बन्धियों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १८ ॥ (तु० पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ५ । १०) ॥

इस प्रकार "अभ्यातन होम" की अठारह आज्याहुति देने के पश्चात् पुनः—

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ सो ऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्यु पाशात् ।

तदयँ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयँ स्त्री पौत्रमद्यं न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ५ । ११) ॥

अर्थ—(अग्निः) अग्नि (देवतानाᳬ) देवताओं में (प्रथमः) मुख्य है, (सः) वह (एतु) गति करे (अस्यै) इस क़न्या की (प्रजां) प्रजा को (मृत्यु पाशात्) प्रसवकालीन मृत्यु तुल्य पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे (तत्) वह (अयम् राजा वरुणः) राजा वरुण (अनुमन्यताम्) सहायक हो (यथा अयम्) जिससे यह (स्त्री) स्त्री (पौत्रम् अद्यं)

पुत्राभाव रूपी दुःख से (न रोदात्) न रोवे, इसके लिये (स्वाहा) सुहुत है॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १॥

ओम् इमा मग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्द मभिविबुध्यतामियं स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्नमम॥ २॥

(पार० गृ० सू० का० १ । कं० ५ । ११)॥

अर्थ—(इमाम् गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि इस कन्या की (त्रायताम्) रक्षा करे (अस्याम्) इस कन्या की (प्रजां) प्रजा को (नयतु दीर्घमायुः) दीर्घायु प्राप्त करावे (अशून्यः उपस्थाः) बन्ध्यात्व दोष से रहित होकर (इयम्) यह कन्या (जीवतां) जीवित सन्तानों की (माता अस्तु) माता होकर (पौत्रम् आनन्दम्) पुत्रादि के आनन्द को (अभित वि बुध्यताम्) विशेष प्रकार जानें, इसके लिये सुहुत है॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ २॥

ओम् स्वस्ति नोऽग्ने दिव आ पृथिव्या विश्वानि धेह्यथा यजत्र। यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रँ स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्नमम॥ ३॥

(पार० गृ० सू० का० १ । कं० ५ । ११)॥

अर्थ—(यजत्रा) यज्ञ के रक्षक (अग्ने) हे अग्नि ! (नः) हमारे (विश्वानि) समस्त कर्मों को जो कि (अयथा) प्रतिकूल सम्पन्न हुए हैं उनको (स्वस्ति) कल्याण प्रद (धेहि) स्थापित कीजिये (दिव आ पृथिव्या) द्यौ से पृथिवी पर्यन्त (यत्) जो (महि) महिमा है (तत्) उसे (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि) स्थापित कीजिये, जो (अस्याम्) इस जगत् में (चित्रम्) नाना प्रकार का (जातम्) उत्पन्न (द्रविणं) धन है जो (दिवि) द्यौ पर्यन्त (प्रशस्तम्) श्रेष्ठ है उसे स्थापित कीजिये, इसके लिये सुहुत है॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ३॥

ओम् सुगन्नु पन्थां प्रदिशं न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरं न आयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा॥ इदं वैवस्वताय-इदन्नमम॥ ४॥

(पार० गृ० सू० का० १ । कं० ५ । ११)॥

अर्थ—हे वैवस्त ! आप (सुगं पन्थाम्) सुख पूर्वक प्राप्तव्य मार्ग का (प्रदिशम्, नु) हमारे मन में उपदेश करते हुए (नः) हमको (ऐहि) प्राप्त हो (ज्योतिष्मत्) प्रकाशमय (अजर) जरा रहित (आयुः) जीवन (धेहि) प्रदान कीजिये, (मृत्युः) मृत्यु (अप एतु) हमसे हट जाये (मे) मेरे लिये (अमृतम्) अमृत या जीवन (आ आगात्) भली भांति प्राप्त हो (वैवस्वतः) वैवस्त (नः) हमें (अभयं) भय रहित (कृणोतु) करे, इसके लिये सुहुत है ॥ यह वैवस्वत के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ४ ॥

ओम् परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य देवयानात्। चक्षुष्मते श्रृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजांꣳ रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा ॥ इदं मृत्यवे-इदन्नमम ॥ ५ ॥

(पार० गृ० सू० का० १ । कं० ५ । १२) ॥

अर्थ—हे (मृत्यो) मृत्यु ! (यत्र) जहाँ कहीं (नः देवयानात्) हमारे देवयान मार्ग अर्थात् विद्वानों द्वारा प्रशस्त मार्ग (इतर अन्यः) भिन्न दूसरे गन्तव्य मार्ग है उन (परं पन्थां) दूसरे मार्ग वालों के (अनु) पीछे (परा इहि) हमसे हटकर जा (चक्षुष्मते) सब कार्यों को देखने तथा (श्रृण्वते) सब की सुनने वाले (ते) तुझसे (ब्रवीमि) निवेदन करता हूँ कि (नः प्रजां) हमारी प्रजा को (मा रीरिषः) नष्ट मत कर (उत) तथा (वीरान्) हमारे वीरों को (मा) नष्ट मत कर ॥ ५ ॥

ओम् द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च। स्तन्धयस्ते पुत्रान्सविताभिरक्षत्वाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात् स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः-इदन्नमम ॥ ६ ॥

(मं० ब्रा० १ । १ । १२) ॥

अर्थ—हे कन्ये ! (द्यौः) द्यौ तथा (वायुः) वायु (पृष्ठं ते रक्षतु) तेरे पृष्ठ भाग की रक्षा करें (च) तथा (अश्विनौ) अश्वनी द्वय (ऊरूः) उरू प्रदेश की रक्षा करें (स्तनन्धयः ते पुत्रान्) स्तनपान करने वाले तेरे (पुत्रान्) तेरे पुत्रों की (आ वाससः) वस्त्र धारण की अवस्था पर्यन्त (सविता) सविता (अभिरक्षन्तु) रक्षा करे इसके पश्चात् (बृहस्पतिः) बृहस्पति रक्षा करे (पश्चात्) तत्पश्चात् (विश्वे देवाः)

विश्वे देव (अभिरक्षन्तु) रक्षा करें, इसके लिये सुहुत है ॥ यह विश्वे देवों के लिए है-मेरे लिए नहीं ॥ ६ ॥

ओम् मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वँ रुदत्युर आवधिष्ठा जीव पत्नी पति लोके विराज पश्यन्ती प्रजाᳫं सुमनस्यमानाᳫं स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ ७ ॥

(मं० ब्रा० १ । १ । १३) ॥

अर्थ—हे कन्ये ! (निशि) रात्रि में (ते, गृहेषु) तेरे घरों में (घोषः) आर्त्तनाद (मा उत्थात्) न उठे (रुदत्यः) कलह कारिणी, रुदनशील स्त्रियां (त्वत् अन्यत्र) तुझ से पृथक् घर में ही (सं विशन्तु) प्रविष्ट रहें (त्वं) तू भी (रुदत्) रोती हुई (पुर आ वधिष्ठा) अपने घर में किसी को मत मार, (जीव पत्नी) प्राणवान् पत्नी स्वरूपा (पतिलोके) पति के घर में (विराज) सुशोभित होकर (सुमनस्य मानाम्) सानन्द चित्त पूर्वक (प्रजां) प्रजा को (पश्यन्ती) देखती हुई सुशोभित हो, इसके लिये सुहुत है ॥ यह अग्नि के लिए है-मेरे लिए नहीं ॥ ७ ॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशँ स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ ८ ॥ (मं० ब्रा० १ । १ । १४) ॥

अर्थ—हे कन्ये ! (अप्रजस्य) सन्तान हीनता (पौत्र मत्र्यम्) तथा मृत वत्सा परक (पाप्मानं) पापों (उत वा) अथवा और (अघं) पापों को (शीर्ष्णः स्रजम् इव) पुरानी पुष्पमाला के तुल्य (उन्मुच्य) छोड़कर (द्विषद्भयः) द्वेष करने वालों को (पाशं) बांधने के तुल्य (प्रतिमुञ्चामि) तुझे अपने प्रेम से बांधता हूँ ॥ ८ ॥

उपर्युक्त मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आहुति करके ये आठ आज्याहुति देकर तत्पश्चात्—

ओम् भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥
ओम् भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्नमम ॥ २ ॥
ओम् स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

ओम् भूर्भुवः स्वरग्नि वायवादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि वायवादित्येभ्यः-इदन्नमम ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों से एक-एक आहुति अर्थात् चार व्याहृति आहुति घृत की देकर वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सन्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वाम हस्त से वधू का दाहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना तथा दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठ सहित चत्ती (हथेली) ग्रहण करके वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् गृभ्णामि ते सौभगत्वायहस्तं मया पत्या जरदष्टि र्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धि र्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥

अर्थ—हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तादि सौभाग्य की वृद्धि के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) सुखपूर्वक वृद्धावस्था को प्राप्त (आस्) हो, तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य वृद्धि के लिये आपके हाथ को ग्रहण करती हूँ, आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये आपका मैं और मुझको आप आज से पति पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं, (भगः) सकल ऐश्वर्य युक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् का उत्पत्ति कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का कर्त्ता परमात्मा और (देवाः) सभा मण्डप में उपस्थित वे सब विद्वान् (गार्ह पत्याय) गृहाश्रम धर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं, आज से मैं आपके हाथ और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं, हम कभी एक दूसरे का अप्रिय आचरणन करेंगे ॥ १ ॥ (ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३६) ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाह मन्त्राशिषो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

ओम् भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृह पतिस्तव ॥ २ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० १ । मं० ५१) ॥

अर्थ—हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत) ग्रहण करता हूँ तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को ग्रहण कर चुका हूँ (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ। अपने दोनों मिल के गृह कार्यों को सिद्ध करें, और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उसको कभी न करें, जिससे घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की वृद्धि सदा होती रहे ॥ २ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाह मन्त्राशिषो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० १ । मं० ५२) ॥

अर्थ—हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् को पालन करने हारे परमात्मा के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (ऊदात्) दिया है (इयम्) यही तू संसार भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (असि) हो हे (प्रजावती) भावी प्रजावान् तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अंर्थात् शत वर्ष पर्यन्त (सं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसी ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे। हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो, मेरे लिये आपके बिना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करने हारा सेव्य इष्ट देव कोई नहीं है, न मैं आपसे अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से व्यवहार न करूंगी। आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक प्राणधारण कोजिए ॥ ३ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाह मन्त्राशिषो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया॥ ४॥

(अथर्व० कां० १४। सू० १। मं० ५३)॥

अर्थ—हे शुभानने ! जैसे इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं (त्वष्टा) जैसे बिजुली व्याप्त हो रही है, वैसे ही तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र (शुभे) आभूषण तथा (कम्) मुझसे सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्य युक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित अर्थात् शोभायुक्त करे वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरणों के समान तुझ को वस्त्र और आभूषण आदि से सदा सुशोभित रक्खूंगा। तथा हे प्रिय ! आपको मैं इसी भांति सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) सुसन्तानादि से तथा ऐश्वर्यमय वस्त्राभूषणादि से सदा आनन्दित रक्खूंगी॥ ४॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। विवाह मन्त्राशिषो देवताः। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

इन्द्राग्नी द्यावा पृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पति मरुतो ब्रह्म सोमइमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥ ५॥

अर्थ—हे मेरे सम्बन्धियों ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि (द्यावा पृथिवी) सूर्य और भूमि (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रा वरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभाः) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करने हारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोम लतादि ओषधीगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी।

जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥ ५ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाह मन्त्राशिषो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोद मुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ६ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० १ । मं० ५७) ॥

अर्थ—हे कल्याण क्रोड़े ! जैसे (मनसः) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्या) इस तेरे (रूपम्) रूप को प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूँ वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे । जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को छोड़ देता हूँ और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (न अद्मि) भोग नहीं करता हूँ (स्वयं) आप (श्रथ्नान्) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्न रूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूँ वैसे (इत्) यह वधू भी किया करे । इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आपसे बर्ताव करूंगी ॥ ६ ॥

पाणिग्रहण के इन छः मन्त्रों का उच्चारण कर वर वधू की हस्ताञ्जली पकड़ कर उठावे, और उसको साथ लेके, जो कलश कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था उसको वही पुरुष जो कलश के पास बैठा था, वर वधू के साथ-साथ उसी कलश को लेकर चले । यज्ञ कुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करे । यह पाणिग्रहण के पश्चात् तथा लाजा होम से पूर्व की एक परिक्रमा है । प्रदक्षिणणा करके—

ओम् अमो ऽहमस्मि सा त्वँ सा त्वमस्यो ऽहम् ।
सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् । ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ् श्रृणुयाम शरदः शतम् ॥ ७ ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ६ । ६) ॥

अर्थ—हे वधू ! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक ग्रहण करने वाला होता हूँ वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करने हारी (असि) है जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझको (अमः) ग्रहण करता हूँ (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझको भी ग्रहण करती है। (अहम्) मैं सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूँ हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करने हारी है और मैं (द्यौ) वर्षा करने हारे सूर्य के समान हूँ, वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवाहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें (सः) साथमिल के (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करैं (प्रजां) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवित (सन्तु) रहें (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णु) परस्पर रुचि रखने वाले (समुनस्य मानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम्) देखते रहें (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द पूर्वक (जीवेम) जीवित रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचन परस्पर (श्रृणुयाम) सुनते रहें॥ ७॥

इन प्रतिज्ञा मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक दोनों प्रतिज्ञा करके, वर वधू के पीछे होकर वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहकर वधू की दक्षिण हस्ताञ्जली अपनी दक्षिण हस्ताञ्जली से पकड़ कर दोनों खड़े रहें और जल के कलश के पास बैठा पुरुष, कलश के पास बैठा रहे।

तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रक्खी थी उसको बायें हाथ में ले के दाहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवा के पत्थर की शिला पर चढ़वावे। और उस समय वर—

ओम् आरोहहेममश्मानमश्मेव त्व ँ्स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतो ऽवबाधस्य पृतनायतः॥

(पारं० गृ० सू० कां० १। कं० ७। १)॥

अर्थ—हे देवी ! (इमम् अश्मानम्) इस पत्थर के ऊपर (आरोह) चढ़ और (अश्मा, इव) इस पत्थर तुल्य (त्वम्) तू गृहस्थ धर्म में (स्थिरा, भव) दृढ़ हो (पृतन्यतः) कलहप्रिय लोगों से पृथक् (अभितिष्ठ) स्थिर रह (पृतनायतः) कलह कारियों को (अव बाधस्व) नीचा दिखा कर रोक ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करे ।

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आकर दोनों पूर्वाभिमुख खड़े रहें और यहाँ वधू वर के दक्षिण ओर रह कर अपनी हस्ताञ्जली वर की हस्ताञ्जली पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मा वा भाई जो बायें हाथ में धाणी का सूप पकड़ के खड़ा रहा हो वह धाणी युक्त सूप भूमि पर रख अथवा अन्य किसी के हाथ में देकर जो वधू वर की एकत्रित अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जली है उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिञ्चन करके पश्चात् प्रथम सूप में से धाणी दाहिने हाथ की अञ्जलि से दो बार लेकर वर वधू एकत्रित अञ्जली में धाणी डाले, पश्चात् उस अञ्जलीस्थ धाणी पर थोड़ा सा घृत सिञ्चन करे। पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जली अपनी हस्ताञ्जली सहित आगे को नमा के—

ओम् आर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत् ।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतुमापतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

अर्थ—(कन्या) कन्याऐं (अर्यमणं) न्यायकारी नियन्ता (अग्निम् देवम्) पूजनीय देव ईश्वर की (अयक्षत्) पूजा करती हैं (सः) वह (अर्यमा देवः) न्यायकारी परमात्मा (नः) हमको (इतः) इस पितृकुल से (प्रमुञ्चतु) छुड़ावे (पतेः) पति के साहर्चय से (मा) न छुड़ावे (स्वाहा) इसलिये सुहुत है ॥ यह न्यायकारी अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १ ॥

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ २ ॥

अर्थ—(लाजान्) भुनी हुई खीलों को (आ अवपन्तिका) अग्नि में छोड़ने वाली (इयं नारी) यह स्त्री (उपब्रूते) पति के समीप कहती है (मे पतिः) मेरा

पति (आयुष्मान् अस्तु) दीर्घजीवी हो और (मम ज्ञातय:) मेरा परिवार एवम् (एधन्ताम्) धन्यधान्यादि बढ़े, इसके लिये सुहुत है ॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

ओम् इमाँल्लाजा नावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणंतव ।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यता मियँ् स्वाहा ॥
इदमग्नये-इदन्नमम ॥ ३ ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ६ । २) ॥

अर्थ—हे पते (इयम्) यह मैं (तव) तेरी (समृद्धि करणम्) समृद्धि के लिये (इमान् लाजान्) इन खीलों को अग्नि में (आ वपामि) छोड़ती हूँ (मम तुभ्यं च) मेरा और तेरा (सं वननम्) परस्पर अनुराग हो (तत्) उसमें (अग्नि:) पूजनीय परमात्मा (अनुमन्यताम्) सहायक हो, इसके लिये सुहुत है ॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र को बोलकर एक-एक बार धाणी की आहुति तीन बार अग्नि में देकर वर—

ओम् सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति ।
यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ।
यस्यां भूतँ् समभवद्यस्यां विश्व मिदं जगत् ।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणा मुतमं यशः ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ७ । २) ॥

अर्थ—(सुभगे) हे शोभन ऐश्वर्य वाली ! (वाजिनी वति) अन्नपूर्णे (सरस्वती) ज्ञानमयी (इदम्) इस गार्हपत्याग्नि की (प्र अव) भली भांति रक्षा कर (अस्य विश्वस्य भूतस्य) इस संसार के प्राणियों की (यां त्वा) जिस तुझको (प्रजायां) विशिष्ट रूप से जननी (अस्य अग्रत:) पूर्व से ही जानते हैं (यस्यां) जिस तुझ से (भूतं) प्राणी (समभवत्) उत्पन्न हुआ (यस्यां) जिस से (इदं विश्वं जगत्) यह सब संसार उत्पन्न हुआ है (अद्य) आज से (तां गाथां) उसका यशोगान करूंगा (या) जो (स्त्रीणां) स्त्रियों का (उत्तमम् यश:) श्रेष्ठ यश है ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर अपने दांये हाथ की हस्ताञ्जली पकड़ के वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या देवताः । निचृदनुष्टुप छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

ओम् तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्या वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३८) ॥

अर्थ—(अग्ने) हे पूजनीय परमात्मन् ! (तुभ्यम्) आपकी मर्यादा पालन के लिये (अग्रे परिवहन) प्रधान रूप से इस कन्या को ग्रहण किया है यह कन्या (सूर्याम्) सूर्यवत शोभा को (वहतु) प्राप्त हो (सह) साथ ही (ना) उसका पति मैं प्रतिष्ठादि शोभा को प्राप्त होऊँ (पुनः) तदनन्तर (प्रजया सह) पुत्रों के साथ (जायाम्) भार्यात्व को प्राप्त हुई इस कन्या को (दा) दीजिये ॥ १ ॥

ओम् कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥ २ ॥

(मं० ब्रा० १ । २ । ५, गो० गृ० सू० प्र० २ । कां० २ । सू० ८) ॥

अर्थ—(कन्यला) यह कन्या (पितृभ्यः) पिता मातादि को (अप) छोड़ कर (पति लोकम्) पति के गृह के प्रति (यतीयम्) जो यह कन्या (अप) ने सब (अप) छोड़कर (दीक्षा अयष्ट) गृहाश्रम में प्रवेश की दीक्षा ली है, (उत) और (त्वया कन्या) तुझ कन्या के साथ मिलकर (वयं) मैं और मेरा परिवार, (धारा उदन्या इव) जल की वेगवती धाराओं के तुल्य (द्विषः) समाज द्वेषियों को (अति गाहेमहि) सर्वथा दबावे ॥ २ ॥

इन मन्त्रों का उच्चारण कर कलश सहित यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करके यज्ञ कुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख रह थोड़ी देर दोनों खड़े रहें ।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर पुनः दो बार इसी प्रकार अर्थात् पाणिग्रहण प्रतिज्ञा के पश्चात् कलश सहित की गयी एक परिक्रमा तथा लाजाहोम पूर्वक कलश सहित की गई तीन परिक्रमाऐं अर्थात्

सब मिलकर कलश सहित चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख थोड़ी देर खड़ा रहकर, उक्त रीति से तीन बार शिलारोहण पूर्वक लाजाहोम सहित तीन बार क्रिया पूरी हुये पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू वर खड़े रहें। तत्पश्चात् वधू की मा अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जली में डाल दे। और वधू--

ओम् भगाय स्वाहा ॥ इदं भगाय इदन्नमम ॥

अर्थ—(भगाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये सुहुत है॥ यह भग के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ (पार० गृ० सू० कां० १। कं० ७। ५)॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर प्रज्ज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की आहुति देवे।

तत्पश्चात् वर, वधू को दक्षिण भाग में रख कुण्ड के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ कर वर—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम ॥

(पार० गृ० सू० १ । ७ । ६)॥

अर्थ—(प्रजापतये) प्रजापति के लिये सुहुत है॥ यह प्रजापति के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ इस मन्त्र का उच्चारण कर स्रुवा से घृत की एक आहुति देवे।

तत्पश्चात् एकान्त में जा कर वधू के बंधे हुए केशों को वर—

ओम् प्रत्वामुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्ना त्सविता सुशेवः।
ऋतस्य यो नौ सुकृतस्य लोके ऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २४)॥ १॥

अर्थ—हे वधू ! (येन) जिस बन्धन से (सुशेवः) शोभन सुख सम्पन्न (सविता) उत्पादक मातृजन (त्वा) तुझे (अबध्नात्) बांध चुका है (वरुणस्य पाशान्) उसी श्रेष्ठ स्त्रियों के अनुरूप केशों के बन्धन से (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चामि) भली

भांति छुड़ाता हूँ। और (ऋतस्य योनौ) ऋत धर्म अर्थात् प्राजापत्य धर्म तथा (सुकृतस्य लोके) लोक में सुकृत्यों के लिये (अरिष्ठान् त्वा) तुझे दुःखों से रहित करके (सहपत्या) मैं पति भाव से (दधामि) ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

सूर्या सावित्री ऋषिः । विवाह मन्त्राः आशिषो देवताः । निचृदनुष्टुप छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

ओम् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ २ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २५) ॥

अर्थ—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! (मीढ्वः) वीर्यसेक्ता विवाहित पुरुष (यथा) जैसे (इयम्) यह कन्या (सुभगा) शोभन ऐश्वर्य वाली (सुपुत्रा) सुन्दर पुत्र वाली (सति) हो, वैसे होकर तथा प्रतिज्ञा कर कि हे कन्ये (इतः) इस पितृकुल से तुझे (प्र मुञ्चामि) विशेष कर छुड़ाता हूँ (अमृतः) उस पति के घर से (न) नहीं छुड़ाता किन्तु (अमृतः) इस पति गृह के साथ तो तुझे (सुबद्धाम्) अच्छे प्रकर सम्बद्ध कर चुका हूँ ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रों का उच्चारण कर खोले ।

तत्पश्चात् वर वधू सभा मण्डप में सप्त पदी विधि का आरम्भ करें, इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ बांध दे, इसे गठ जोड़ा वा ग्रन्थि बन्धन कहते हैं। वधू वर दोनों आसन से उठकर वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जली पकड़ कर यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जावे। तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्ध पर रखकर दोनों समीप खड़े रहें। तत्पश्चात् वर—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम ॥ *(गोभिलीय गृ० सू० २ । २ । १३) ॥*

अर्थ—(सव्येन्) हे वधू ! बायें पैर से (दक्ष्शिणम्) दाहिने पैर का (मा अतिक्राम) अतिक्रमण मत कर ॥

ऐसा उच्चारण कर वधू को उसका दाहिना पैर उठा कर चलने के लिये आज्ञा देवे ।

इस पग रखने की विधि ऐसी है कि वधू अपना दाहिना पैर उठा के पूर्वोत्तर अर्थात् ईशान कोण की ओर बढ़ा के रखे तत्पश्चात् बांये पैर को उठा के दाहिने पैर की पटली तक रक्खे अर्थात् बायां पैर से पीछे रक्खे। इसको एक पग रखना कहते हैं। यह क्रिया सात बार करना सप्त पदी है अर्थात् एक-एक मन्त्र का उच्चारण कर एक-एक पग ईशान दिशा की ओर रखना।

ओम् इषे एक पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

अर्थ—हे कन्ये ! (इषे) अन्नादि के लिये तू (एक पदी भव) प्रथम पग उठा (सा) वही तू (माम् अनुव्रता भव) मेरे अनुकूल व्रत वाली हो (विष्णुः त्वा) परमात्मा तुझे (आ नयतु) प्राप्त करावे (पुत्रान् बहूम् विन्दावहै) बहुत पुत्रवान् हो (ते सन्तु जरदष्टयः) वे वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाले हों ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग चले और चलावे।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ २ ॥

इस मन्त्र से दूसरा पग,

अर्थ—हे वधू ! (ऊर्ज्जे) ऊर्ज्जा प्राप्ति के लिये तू द्वितीय पग उठा, परमात्मा की कृपा से तू बहुत पुत्रों वाली हो, वे पुत्र दीर्घजीवी हों ॥ २ ॥

ओम् रायष्पोषाय त्रिपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से तीसरा पग,

अर्थ—हे देवि ! (रायः पोषाय) पोषणार्थ धन के लिये तू तृतीय पग उठा, तू मेरे अनुकूल व्रत वाली हो, परमात्मा की कृपा से तू बहुत पुत्रों वाली हो, वे पुत्र दीर्घायु हों ॥ ३ ॥

ओम् मयोभवाय चतुष्पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ४ ॥

इस मन्त्र से चौथा पग,

अर्थ—(मयोभवाय) सुख प्राप्त्यर्थ तू चतुर्थ पग उठा तथा मेरे अनुकूल आचरण वाली हो परमात्मा की कृपा से तू बहुत पुत्रों वाली हो, वे पुत्र दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

ओम् प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ५ ॥

इस मन्त्र से पाँचवां पग,

अर्थ—(प्रजाभ्यः) प्रजावान होने के लिये पञ्चम पग उठा तथा मेरी अनुकूल आचरण वाली रहकर परमात्मा की कृपा से बहुत पुत्रों वाली हो, वे पुत्र दीर्घजीवी हों ॥ ५ ॥

ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ६ ॥

इस मन्त्र से छठा पग,

अर्थ—हे वधू ! (ऋतुभिः) ऋतुकालाभिगामी होने के लिये तू षष्ठ पग उठा तथा मेरे अनुकूल आचरण वाली रहकर परमात्मा की कृपा से बहुत पुत्रों वाली हो, वे पुत्र दीर्घजीवी हों ॥ ६ ॥

ओम् सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ७ ॥

इस मन्त्र से सातवां पग चलना ॥ *(आश्वला० गृ० सू० १ । ७ । १९)* ॥

अर्थ—हे देवि ! (सखा) सख्य भाव के लिये तू सप्तम् पग उठा तथा मेरे अनुकूल आचरण वाली रहकर परमात्मा की कृपा से बहुत पुत्रों वाली हो, वे पत्रु दीर्घजीवी हों ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन सात मन्त्रों के उच्चारण सहित वर और वधू ईशान दिशा में चल कर दोनों ग्रन्थि बन्धन युक्त अपने आसन पर पूर्वाभिमुख बैठें।

तत्पश्चात् प्रथम से जो पुरुष जल को लेकर दक्षिण दिशा में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्वस्थापित जल कलश को लेकर वधू के समीप आवे और उस

जल कलश में से थोड़ा सा जल दक्षिण हस्त में लेकर वधू वर के मस्तिष्क पर छिड़कावे और वर—

त्रिशिरा त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीपो अम्बरीष ऋषयः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

ओम् आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्ज्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

अर्थ—(आपः) हे जल ! (हिष्ठा) तुम होते हो (मयो भुवः) सुख देने वाले, (महे रणाय) महान् आनन्द (चक्षसे) देखने तथा (ऊर्ज्जे) ओज के लिये (न दधातन्) हमें धारण कीजिये ॥ १ ॥

त्रिशिरा त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीपो अम्बरीष ऋषयः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

ओम् यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

अर्थ—(यः वः) जो वह (उशती इव मातरः) मा के समान सुखदायक (शिव तमः रसः) कल्याण कर रस है (तस्य नः) उसे हमें (भाजय तेह) प्राप्त कराइये ॥ २ ॥

त्रिशिरा त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीपो अम्बरीष ऋषयः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

ओम् तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ *(ऋ० म० १० । सू० ९ । मं० १-३) ॥*

अर्थ—हे जलो ! (तस्मा अरङ्ग माम) जिस अन्न के निवास के लिये (वः यस्य क्षयाय जिन्वथ) तुम ओषधियों को तृप्त करते हो, उसी अन्न के लिये हम पर्याप्त रूप से तुम्हें प्राप्त करते हैं (जनयथा च नः) हमको पुत्र पौत्रादि के उत्पादन में समर्थ करो ॥ ३ ॥

ओम् आपः शिवः शिवतमः शान्ताः शान्त तमास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥

(पार० गृ० सू० १ । ८ । ४) ॥

अर्थ—(आपः) जो जल (शिवः) कल्याण कर तथा (शिवतमः) सुखकारक है (शान्ताः) शान्तिदायक तथा (शान्ति तमाः) अत्यधिक शान्तिकर है (ते भेषजम्) वह ओषधिवत् (कृण्वन्तु) कल्याण करे॥ ४॥

इन चार मन्त्रों का उच्चारण करें।

तत्पश्चात् वधू वर वहाँ से उठकर—

ओम् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ् श्रृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

(यजु० अ० ३०। मं० २४)॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर सूर्य का दर्शन करें।

इसके पश्चात् वर वधू के दक्षिण स्कन्ध पर से अपना हाथ लाकर वधू का हृदय स्पर्श करके—

ओम् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाच मेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम्॥

(पार० गृ० सू० कां० १। कं० ८। ८)॥

अर्थ—हे वधू ! (ते हृदयम्) तेरे अन्तःकरण और आत्मा को (मम व्रते) अपने व्यवहार के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूँ (मम चित्तम् अनु) मेरे चित्त के अनुकूल (ते चित्तम् अस्तु) तेरा चित्त सदा रहे (मम वाचम्) मेरी वाणी को तू (एक मनाः जुषस्व) एकाग्र चित्त से सेवन किया कर (प्रजापतिः) प्रजापति स्वरूप परमात्मा (त्वा) तुझे (मह्यम् नियनक्तु) मेरे लिये नियुक्त करे।

इस मन्त्र का उच्चारण करे और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके "ओम् मम व्रते"० मन्त्र का उच्चारण करे।

वैसे ही हे प्रिय स्वामिन् ! आपका अन्तःकरण और आत्मा अपने प्रियाचरण और कर्म में धारण करती हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप एकाग्र चित्त से मेरी वाणी का सेवन कीजिये, क्योंकि आज से प्रजापति स्वरूप परमात्मा ने आपको मेरे आधीन किया है। इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्त्ता करें जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत

होकर सब प्रकार के व्यभिचार तथा अप्रिय भाषणादि को छोड़ कर परस्पर सदा प्रीति युक्त रहें ।

तत्पश्चात् वर वधू के मस्तक पर हाथ धर कर—

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या विवाह देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् सुमङ्गलीरियं वधूरिमा समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३३, पार० गृ० सू० १ । ८ । ९) ॥

अर्थ—हे विद्वानों ! (इयम् वधू:) यह वधू (सुमङ्गली) मङ्गल रूप है अत: इस कन्या के साथ (समेत) मेल रक्खों (इमाम्) इसे मांगलिक दृष्टि से (पश्यत) देखो और (अस्यै) इसके लिये (सौभाग्यम् दत्वा) आशीर्वाद देकर (अस्तम्) अपने-अपने घर को (याथा) पधारो और (न विं परा इत्त) विशेषत: पराङ्ग मुख होकर मत जाओ ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर कायार्थ पधारे हुए लोगों की ओर देखें । तथा इस संमय उपस्थित सब लोग—

ओम् सौभाग्यमस्तु, शुभं भवतु ॥

अर्थ—(सौभाग्यम् अस्तु) आप धन धान्यादि से सम्पन्न हों, (शुभं भवतु) आपका कल्याण हो ।

उपस्थित सब लोग इस वाक्य से वर वधू को अशीर्वाद दें ।

तत्पश्चात् वर वधू यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् पूर्वाभिमुख बैठकर—

ओम् यदस्य कर्मणो ऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्ट त्स्विष्ट कृद्विद्यात्सर्वं स्विँष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्ट कृते सुहुत हुते सर्व प्रायश्चित्ता हुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्ट कृते-इदन्नमम ॥

(आश्वला० गृ० सू० १ । १० । २२) ॥

इस स्विष्ट कृत् मन्त्र से घृत की एक आहुति देकर—

ओम् भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

ओम् भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे–इदन्नमम ॥ २ ॥

ओम् स्वरादित्यायस्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

ओम् भू र्भुवः स्वरग्नि वाय्यवादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि वाय्यवादित्येभ्यः-इदन्नमम ॥ ४ ॥

(गोभिलीय गृ० सू० १ । ८ । १५) ॥

पश्चात् पूर्णाहुति तीन वार सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा मंत्र उच्चारणा करके करे।

इन चार मन्त्रों से घृत की चार व्याहृति आहुति दें। इस प्रकार विवाह की विधि पूरे हुए पश्चात् वर वधू दोनों वहाँ से उठकर थोड़ी देर विश्राम करें।

इस प्रकार थोड़ी देर विश्राम करके विवाह का उत्तर विधि आरम्भ करें। यह उत्तर विधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर जो प्रथम से बना रक्खा हो उसमें बनी यज्ञ वेदी में करनी।

सूर्यास्त होने के पश्चात् आकाश में नक्षत्र दीखें उस समय वधू वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम में पूर्वाभिमुख आसन पर स्थित हों आचमन तथा अङ्ग स्पर्श कर वेदी में समिधा चयन कर अग्न्याधान मन्त्र "ओम् भू र्भुव स्वर्द्यौः" मन्त्र का उच्चारण कर अग्न्याधान करे। यदि प्रथम ही सभा मण्डप ईशान दिशा में बना रक्खा हो और प्रथम अग्न्याध्यान हुआ हो तो अग्न्याधान न करे, समिदाधान करके जल प्रोक्षण कर अग्नि प्रदीप्त होने पर—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग में अग्नि पर।

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय-इदन्नमम ॥ २ ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में अग्नि पर घृत की आघारावाज्याहुति देकर—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम ॥ ३ ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्नमम ॥ ४ ॥

इन दो मन्त्रों से वेदी के मध्य में अग्नि पर घृत की आज्याभागाहुति देकर—

ओम् भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्नमम॥ १॥
ओम् भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे-इदन्नमम॥ २॥
ओम् स्वरादित्यायस्वाहा॥ इदमादित्याय-इदन्नमम॥ ३॥
ओम् भू र्भुवः स्वरग्नि वाय्यवादित्येभ्यः स्वाहा॥ इदमग्नि वाय्यवादित्येभ्यः-इदन्नमम॥ ४॥

इन चार मन्त्रों से घृत की चार व्याहृति आहुति देकर प्रधान होम करे—

ओम् लेखा सन्धिषु पक्ष्मास्वावर्त्तेषु च यानि ते। तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ १॥

अर्थ—हे कन्ये ! (लेखा सन्धिषु) मस्तकादि रेखाओं की सन्धियों में (पक्ष्मसु) नेत्रों के पलकों में (च आरोकेषु) तथा नाभिरंध्रादिको में (ते यानि) तेरे जो बुरे चिह्न होंगे (ते सर्वाणि तानि) तेरे उन सब को (पूर्णा हूत्या) पूर्णतः (अहम्) मैं (शमयामि) शमन करने की प्रतिज्ञा करता हूँ (स्वाहा) इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १॥

ओम् केशेषु यच्च पाप कमीक्षते रुदिते च यत्। तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ २॥

अर्थ—(केशेषु) केशों में (यत् च) जो कुछ (पापकम् ईक्षते) दोष दिखाई देगा तथा तेरे रोदन में, उन सबको पूर्णतः मैं शमन करने की प्रतिज्ञा करता हूं। इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ २॥

ओम् शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ ३॥

अर्थ—(शीलेषु) सौजन्य में, (भाषिते) बोलने में, (च हसिते यत्) तथा हास्य में जो कुछ दोष होगा उसके शमन का मैं यत्न करूँगा। इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ३॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ ४॥

अर्थ—(दन्तेषु च आरोकेषु) तेरे दांतों, तथा दन्त छिद्रों (हस्तयोः च पादयोः) हाथों तथा पैरों, उन सब के शमन के लिये पूर्णाहुति पूर्वक प्रयत्न करूँगा। इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ४॥

ओम् ऊर्वोरूपस्थै जङ्घयोः सन्धानेषु॥ तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ ५॥

अर्थ—(ऊर्वोः) जांघों में (उपस्थे) योनि में तथा (जंघयोः) घुटनों में (सन्धानेषु) सन्धि स्थान में जो दोष होगा उनके शमन के लिये पूर्णाहुति पूर्वक यत्नशील हूँगा। इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ५॥

ओम् यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै-इदन्नमम॥ ६॥ *(मं० ब्रा० १।३।१–६)॥*

अर्थ—हे कन्ये! (तव सर्वाङ्गेषु) तेरे शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों में (यानि कानि च घोराणि) जो कुछ भी विकार (अभवन्) होगा (आज्यस्य पूर्णाहुतिभिः) घृत की इस पूर्णाहुति के साथ-साथ ही मैं शमन करूँगा, इसके लिये सुहुत है॥ यह कन्या के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ६॥

इन छः मन्त्रों से एक-एक के उच्चारण पूर्वक एक-एक आहुति देकर घृत की चार व्याहृति आहुति दें। तत्पश्चात् वधू वर वहाँ से उठकर सभा मण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जायें। वहाँ वर—

ध्रुवं पश्य॥

अर्थ—ध्रुव को देख।

ऐसा उच्चारण कर वधू को ध्रुव तारा दिखलावे।

हे वधू वा वर जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक-दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहें।

तत्पश्चात् वधू—

पश्यामि।

मैं ध्रुव को देखती हूँ। ऐसा कहे तत्पश्चात् वधू—

ओम् ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य असौ) ॥

(गोभिलीय गृ० सू० प्र० २। खं० ३। सू० ८)॥

अर्थ—हे स्वामिन् सौभाग्यदा (अहम् नाम) मैं (अमुष्य, पति का नाम जैसे शिव शर्मण:) आपकी पत्नी (पतिकुले) पति कुल में (ध्रुव) निश्चय जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं वैसे मैं भी आपकी स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करे वर—

अरुन्धतीं पश्य॥

अरुन्धती तारे को देख।

ऐसा वाक्य उच्चारण कर वधू को सप्तर्षि मण्डल के अन्तिम छोर पर स्थित वशिष्ठ संज्ञक तारे के समीप स्थित अरुन्धती तारे को दिखलावे। और वधू—

पश्यामि।

देखती हूँ, ऐसा कहकर वधू—

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य असौ) ॥

(गोभिलीय गृ० सू० २। ३। १०)॥

अर्थ—अरून्धती नक्षत्र की भाँति मैं (अपना नाम) आपके (पति का नाम) साथ स्थिर हूँ।

इस मन्त्र का उच्चारण करे। तत्पश्चात् वर वधू की ओर देखते हुए वधू के मस्तक पर हाथ रखके—

ओम् ध्रुवा द्यौ र्ध्रुवा पृथिवीं ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्॥ १॥

(मं० ब्रा० १। ६। ६)॥

अर्थ—(ध्रुवा द्यौः) द्यौ अपनी मर्यादा में स्थिर है (ध्रुवाँ पृथिवी) पृथिवी अपनी मर्यादा में स्थिर है (ध्रुवं विश्वम् इदम् जगत्) यह समस्त जगत् अपनी मर्यादा में स्थिर है (ध्रुवासः पर्वता) पर्वत अपनी मर्यादा में स्थिर हैं इस प्रकार (इयम् स्त्री) यह मेरी स्त्री (पतिकुले) मुझ पति के कुल में (ध्रुवा) स्थिर रहे।

ओम् ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि।
मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्॥

(पार० गृ० सू० कां० १। सू० ८। १९)॥

अर्थ—हे स्वामिन्! जैसे आप मेरे प्रति (ध्रुवम्) दृढ़ संकल्पपूर्वक स्थिर (असि) हैं, जैसे मैं (त्वा) आपको (ध्रुवम् पश्यामि) दृढ़ स्थिर देखती हूँ वैसे ही आप मेरे साथ सदा दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहिये क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आपको (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका है वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजावान् होकर (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीवित रहें। तथा हे वरानने! (पोष्ये) मेरे द्वारा पोषण योग्य (मयि) मुझ पति के साथ (ध्रुवा एधि) स्थिर रह (मह्यम्) मुझे मेरे मनोनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है तू (मया) मुझ पति के साथ (प्रजावती) प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर। वधू वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें जिससे परस्पर कभी विरोध उत्पन्न न हो।

इन दोनों मन्त्रों का उच्चारण करें। तत्पश्चात् वधू और वर वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर आचमन अङ्ग स्पर्श करके यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रदीप्त कर, पृथक् अग्नि पर उसी समय स्थाली पाक अर्थात् भात वना उसमें प्रचुर घृत मिला, वेदी में समिदाधान कर जल प्रोक्षण करें। तत्पश्चात् घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति देकर अष्ट आज्याहुति "ओम् त्वन्नो अग्ने" आदि आठ मन्त्रों से वर वधू दें।

तत्पश्चात् सिद्ध किये भात में से थोड़ा भात पृथक् पात्र में निकाल उस पर घृत सिञ्चन करके, घृत तथा भात को भली भांति मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात दोनों जने लेकर—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्नमम॥ १॥

अर्थ—अग्नि के लिये सुहुत है ॥ यह अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ १ ॥

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम ॥ २ ॥

अर्थ—प्रजापति के लिये सुहुत है ॥ यह प्रजापति के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्य स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवोभ्यः-इदन्नमम ॥ ३ ॥

अर्थ—विश्वे देवों के लिये सुहुत है ॥ यह विश्वे देवों के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये-इदन्नमम ॥ ४ ॥

अर्थ—अनुकूल मति वालों के लिये सुहुत है ॥ यह अनुकूल मति वालों के लिये है-मेरे लिये न्रहीं ॥ ४ ॥

आहुति दें । तत्पश्चात् "ओम् यदस्यंकर्मणो" स्विष्ट कृत् मन्त्र से भात की स्विष्ट कृत् आहुति देकर घृत की चार व्याहृति आहुति तथा अष्टाज्याहुती देकर, पूर्णाहुतिकर अवशिष्ट भात एक पात्र में निकाल कर [illegible] घृत सेचन करके वर उस भात पर अपना दक्षिण हाथ रख के—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राण सूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्य ग्रन्थिना मनश्च हृदयं चते ॥ १ ॥

अर्थ—हे वधू वा वर ! जैसे अन्न के साथ, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे (मणिना) रत्न तुल्य (अन्न पाशेन) अन्न रूपी पाश से (पृश्निना) अन्न रूप (प्राण सूत्रेण) प्राण सूत्र से तथा (सत्यग्रन्थिना) सत्य के बन्धन से (ते) तेरे (हृदयम् च) हृदय तथा (मनः च) मन को (बध्नामि) बांधता हूँ वा बांधती हूँ ॥ १ ॥

ओम् यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिद ँ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥ २ ॥

अर्थ—हे वर वा हे वधू ! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो, और (मम) मेरा (यत् इदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥ २ ॥

ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विँ्शस्तेन बध्नामि त्वा असौ॥ ३ ॥

(मं० ब्रा० १ । ३ । ८–१०) ॥

अर्थ—(असौ) यहाँ वधू वा वर का नाम, ले जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करने हारा (षड्विंशः) छब्बीसवां तत्त्व (अन्नम्) अन्न है (तेन) उससे (त्वा) तुझको (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूँ।

इन तीन मन्त्रों को मन से जप के, वर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को दे। जब वधू उसको खा चुके तब वधू वर यज्ञ मण्डप में सजे हुए शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्य गान करें।

तत्पश्चात् यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे ईश्वर स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण का पाठ करके क्षार लवण रहित मिष्ट घृत दुग्धादि सहित भोजन करें। तत्पश्चात् पुरोहितादि ऋत्विजों को सादर दक्षिणा देकर, पुरोहितादि ऋत्विजों और कायार्थ एकत्रित हुए लोगों को सम्मानपूर्वक भोजन करा, पुरोहितादि ऋत्विजों को पुनः दक्षिणा दे, संन्यासी, सत्पुरुष विद्वानों का धन अन्न वस्त्र तथा पात्रादि दान से सत्कार कर विवाह में आये हुए पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री यथोचित सत्कार कर सादर विदा करें।

तत्पश्चात् दश घटिका अर्थात् चार घन्टे रात्रि जाय तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रि पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य व्रत पूर्वक शयन करें तथा ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न हो। तत्पश्चात् चौथे दिन विधि पूर्वक गर्भाधान संस्कार करें। यदि चौथे दिवस कोई

व्यवधान आवे तो अधिक दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रह कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, तथा गर्भाधान प्रकरण में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथा विधि गर्भाधान करें।

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्ष वाले लोग वधू और वर को रथ में बैठा के बड़े सम्मानपूर्वक अपने घर लावें। रथ में बैठते समय वर अपने दक्षिण अर्थात् दाहिनी ओर वधू को बैठावे।

यदि वधू अपने माता पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रुभर लावे तो—

अभितपा सौर्यः ऋषिः। सूर्यो देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीऽधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्योजनयः परिष्वजे॥

(ऋ० म० १० । सू० ४० । मं० १०)॥

अर्थ—(ये नरः) जो मनुष्य (अध्वरे) मङ्गलोत्सवों पर (रुदन्ति) रोते हुए (जीवम्) जीव को (विमयन्ते) विशेषतः सान्त्वना देते हैं (दीर्घां प्रसितिम) अपने दूर तक फैले हुए सम्बन्धों को (अनुदीधियुः) अपने अनुकूल बनाते हैं और जो (इदं) इस जीव के सन्मुख (पितृभ्यः) उसके माता पितादि के लिये (समेरिरे) सदैव मधुर वचन बोलते हैं (पतिभ्यः) ऐसे पतियों से (जनयः) स्त्रियां (परिष्वजे) आलिङ्गन में (मयः) सुखी होती हैं।

रथ में बैठते समय वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः। विवाहे आशिषो देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमावदासि॥ १॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २६)॥

अर्थ—हे कन्ये ! (पूषा) यह पूषा रूप पोषक पति (त्वा इतः) तुझे यहाँ से (हस्तं गृह्य) हाथ से पकड़ कर (नयतु) ले जावे (अश्विनौ) वेगवान् घोड़े (रथेन) रथ द्वारा (त्वा) तुझे (प्रवहताः) भली भांति ले जायें, तू (गृहांन् गच्छ) पति के घर जा (यथा) जिससे तू (गृह पत्नी) गृह स्वामिनी (असः) होवे तू (विदथम्) अपने समूह में (आवदासि) ऐसे भाषण कर कि (वशिनी असः) सबको वश में रखने वाली हो जावे ॥ १ ॥

सूर्या सावित्री ऋषिः । विवाहे आशिषो देवताः । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

सुकिं शुकं शल्मलि विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्यै वहु तुं कृणुध्व ॥ २ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २६) ॥

अर्थ—हे (सूर्ये) सूर्यवत् शोभामयि ! (सुकिंशुक, शाल्मलि) सुदृढ़ पलाश तथा सेमल के क्राष्ठ से निर्मित (विश्वरूपं) शोभायमान् रूप से युक्त (हिरण्यवर्णं) स्वर्णिम वर्ण वाला (सुवृतं) भली भांति जुड़े हुये (सुचक्रं) सुदृढ़ पहियों से युक्त रथ पर (आरोह) चढ़ कर (वहतुं) अपने गमन को (स्योनं) सुखदायक और (अमृतस्य लोकं) पीड़ा रहित स्थान (कृणुष्व) बना ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों का उच्चारण कर रथ को चलावे । उस समय कन्या के माता पिता—

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्यौ देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविताकृणोतु ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७५) ॥

अर्थ—हे पुत्री ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि युक्त (बुध्यमाना) विवेक युक्त होकर (गृहान् गच्छ) स्वपति गृहों को प्राप्त हो (गृहपत्नी यथा असः) गृह स्वामिनी हो

(प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान तथा उत्तम व्यवहार को यथावत जान (सविता) जगत् को उत्पन्न करने वाला परमात्मा (दीर्घं त आयुः) तुझे दीर्घायु करे।

इस मन्त्र का उच्चारण कर कन्या को विदा करें।

यदि वधू को वहाँ से लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो उस समय वर—

देवाः ऋषिः । अग्निर्देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखाय ।

अर्थ—(अश्मन्वती) पाषाणादि से युक्त अर्थात् विषमताओं से युक्त यह संसार रूपी नदी (रीयते) निरन्तर बह रही है (संरभध्वम् उत्तिष्ठत) उत्साहपूर्वक उठो (प्र तरता) विशेष कर पार करो (सखाय) सखा के लिये अर्थात् सखा के साथ।

इस मन्त्र का उच्चारण कर वधू सहित नाव पर बैठे तथा नाव से उतरते समय वर—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ५३ । मं० ८) ॥

अर्थ—(ये) जो (अशेवाः) दुःखकारक (असन्) हैं उन्हें (अत्रा जहाम) यहाँ ही छोड़ते हैं (वयम्) हम (शिवान् वाजान्) कल्याणकारी पदार्थों की (अभि) प्राप्ति के लिये (उत् तरेम) उतरेंगे ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर वधू सहित नाव से उतरे।

यदि मार्ग में चार व्यवधानों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयंकर स्थान, ऊँचे नीचे खड्डु वाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड वा श्मशान भूमि आये तो वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् मा विदन् परि पन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेभिर्दुर्गमती तामप द्रान्त्वरातयः ॥

(ऋ० मं० १० । सू. ८५ । मं० ३३) ॥

अर्थ—(ये) जो (परि पन्थिनः) चोर डाकू आदि (दम्पती) दम्पती के मार्ग में बाधक रूप में (आ सीदन्ति) आते हैं (मा विदन्) ईश्वर कृपा से वे न मिले (दुर्गम) दुर्गम क्षेत्र को (अति) उल्लंघन कर (सुगेभिः) सुगम मार्गों से (इतम्) जाने वालों के (अमतयः) शत्रु हैं वे भी ईश्वर कृपा से (अप द्रान्तु) भाग जायें ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करें।

वर वधू जिस रथ में बैटकर जाते हों उसके किसी भाग में भग्न होने पर, अथवा अकस्मात् अन्य किसी प्रकार का उपद्रव होने पर मार्ग में कोई अच्छा स्थान देख निवास करें। वहाँ सुन्दर आसन बिछा, उस पर पूर्वाभिमुख बैठ कर आचमन तथा अङ्ग स्पर्श कर आवसथ्याग्नि अर्थात् वैवाहिक अग्नि प्रज्ज्वलित कर समिदाधान, पञ्च आज्याहुति तथा जल प्रोक्षण कर घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति देकर, घृत की चार व्याहृति आहुति दें। तत्पश्चात् "वामदेव्य गान" करें।

जब वधू वर का रथ वर के घर के समीप आ पहुँचे तब कुलीन पुत्रवती सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री आगे सन्मुख आकर वधू का हाथ पकड़ के वर के साथ रथ से नीचे उतारे, और वर के साथ स्वागतार्थ सभा मण्डप में ले जावे। सभा मण्डप के द्वार पर वहाँ पधारे हुए लोगों की ओर देखकर वर—

ओम् सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ३३) ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करे और आये हुए लोग—

ओम् सौभाग्यमस्तु, शुभं भवतु ॥

इस प्रकार उच्चारण कर आशीर्वाद दें। तत्पश्चात् वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः । विवाहे आशिषो देवताः । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं १ सं सृजस्वाधाजिव्रीविदथमा वदाथः ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० २७) ॥

अर्थ—हे वधू ! (तेरा) तेरा (इह) इस पतिकुल में (प्रियम् प्रजया) प्रिय प्रजा के साथ सुख (सम् ऋध्यताम्) भली प्रकार बढ़े (गार्हपत्याय) गृह स्वामिनी बनने के लिये तू (अस्मिन् गृहे) मेरे घर में (जागृहि) सदैव जाग्रत रहे (एना पत्या) इस पति के साथ ही (तन्वम्) अपने शरीर का (सं सृजस्व) संसर्ग कर (अथ) और (जिव्री) वृद्धावस्था को प्राप्त हुए पति पत्नी (विदथम) गृहस्थाश्रम धर्म पालन रूप यज्ञ की (आ वदाथः) भली भांति प्रशंसा करो ॥

वर इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक वधू को सभा मण्डप में ले जावे तथा वधू वर पूर्व स्थापित यज्ञ वेदी के समीप जावें। उस समय वर—

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पुरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा निषीदतु ॥

(अथर्व० कां० २० । सू० १२७ । मं० १२) ॥

अर्थ—(इह) ये (गावः) गायें (प्रजायध्वम्) प्रजावान हों (इह) ये (अश्वा) घोड़े प्रजावान हो (इह पुरुषाः) ये पुरुष प्रजावान हों (इह उ) और यहाँ (पूषा) तेरा पोषक मैं (सहस्र दक्षिणः अपि) सहस्रशः दक्षिणा देता हुआ (निषीदतु) विद्यमान रहूं ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर वेदी के पश्चिम भाग में वधू को अपने दक्षिण पार्श्व में रखते हुए पूर्वाभिमुख पीठासन अथवा तृणासन पर बैठ अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण का पाठ कर, यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे आचमन अङ्ग स्पर्श कर वेदी में समिधाचयन कर अग्न्याधान मन्त्र पूर्वक अग्न्याधान कर, भली भांति अग्नि प्रदीप्त कर, समिदाधान तथा पञ्च आज्याहुति देकर जल प्रोक्षण कर घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति देकर, घृत की चार व्याहृति आहुति देने के पश्चात् घृत की चार "ओम् भूर्भुव स्वः अग्न आयूंषि" आदि चार मन्त्रों से आहुति देकर अष्टाज्याहुति दोनों वर तथा वधू देवें। इस प्रकार घृत की सोलह आहूतियां देकर प्रधान होम करें।

ओम् इह धृतिः स्वाहा॥ इदमिह धृत्यै-इदन्नमम॥ १॥

अर्थ—यह धैर्य के लिये सुहुत है॥ यह धृतिं के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १॥

ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा॥ इदमिह स्वधृत्यै-इदन्नमम॥ २॥

अर्थ—यह धैर्यपूर्वक सुख प्राप्ति के लिये सुहुत है॥ यह स्वधृति के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ २॥

ओम् इह रन्ति स्वाहा॥ इदमिह रन्त्यै-इदन्नमम॥ ३॥

अर्थ—यह गार्हस्थ्य आनन्द के लिये सुहुत है॥ यह गार्हस्थ्य आनन्द के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ३॥

ओम् रमस्व स्वाहा॥ इदमहि रमाय-इदन्नमम॥ ४॥

अर्थ—यह गार्हस्थ्य क्रीड़ानन्द के लिये सुहुत है॥ यह गार्हस्थ्य क्रीड़ानन्द के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ४॥

ओम् इह मयि धृतिः स्वाहा॥ इदं मयि धृत्यै-इदन्नमम॥ ५॥

अर्थ—यह मेरे धैर्ययुक्त रहने के लिये सुहुत है॥ यह मेरे धैर्ययुक्त रहने के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ५॥

ओम् मयि स्वधृतिः स्वाहा॥ इदं मयि स्वधृत्यै-इदन्नमम॥ ६॥

अर्थ—मेरे सुख तथा धैर्य के लिये सुहुत है॥ यह मेरे सुख तथा धैर्य के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ६॥

ओम् मयि रमः स्वाहा॥ इदं मयि रमाय-इदन्नमम॥ ७॥

अर्थ—मेरे गार्हस्थ्य आनन्द के लिये सुहुत है॥ यह गार्हस्थ्य आनन्द के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ७॥

ओम् मयि रमस्व स्वाहा॥ इदंमयि रमाय-इदन्नमम॥ ८॥

अर्थ—मेरे गार्हस्थ क्रीड़ानन्द के लिये सुहुत है॥ यह मेरे गार्हस्थ्य क्रीड़ानन्द के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ८॥ (तु० मं० ब्रा० १। ३। १४)॥

इन मन्त्रों से, प्रत्येक से एक-एक करके आठ आज्याहुति घृत की देके वधू वर—

सूर्या सावित्री ऋषिः। सूर्या देवताः। निचृद् जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्नमम॥ १॥

(ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४३)॥

अर्थ—हे वधू ! (अर्यमा) न्यायकारी, दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) वृद्धावस्था पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को, शुभ गुण कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे (समंनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और ये शुभ गुण युक्त (मङ्गली) स्त्री लोग सब परिवारीय जनों को आनन्द (अदुः) देवें उनमें से एक तू, हे वरानने (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (श्राविश) प्रवेश वा प्राप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिये (शं) सुख कारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि पशुओं को (शम्) सुखकर्त्री (भव) हो इसलिये सुहुत है॥ ये सूर्या सावित्री के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १॥

सूर्या सावित्री ऋषिः। सूर्या देवताः। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् अघोरचक्षुर पतिध्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीर सूदेवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्नमम॥ २॥

(ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४४)॥

अर्थ—हे वरानने (अपतिध्नि) पति से विरोध न करने हारी तू ! (अघोर चक्षुः) प्रिय दृष्टि सम्पन्न हो (शिवा) मङ्गल करने हारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरण युक्त, प्रसन्न चित्त, (सुवर्चाः) सुन्दर गुण कर्म स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीर सूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करने हारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग में आस्थावान् (स्योना) सुख युक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) माता पितादि मनुष्यों के लिये (शम्) सुख देने वाली (भव) सदा हो तथा (चतुष्पदे) गवादि पशुओं को भी

(शं) सुख देने हारी हो, इसके लिये सुहुत है ॥ यह सूर्या सावित्री के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ २ ॥

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगांकृणु ।
दशास्या पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यैइदन्नमम ॥ ३ ॥
(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४५) ॥

अर्थ—ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य सेचन करने हारे (इन्द्र) परमैश्वर्य युक्त, इस वधू के स्वामिन् (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्रां) उत्तम पुत्र युक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य तथा भोगवाली (कृणु) कर (अस्याम्) इस वधू में (दश पुत्रान्) दश पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं, और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष कर, इसके लिये सुहुत है ॥ यह सूर्या सावित्री के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

सूर्या सावित्री ऋषिः । सूर्या देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु स्वाहा ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै-इदन्नमम ॥ ४ ॥
(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४६) ॥

अर्थ—हे वरानने ! तू (श्वशुरे) श्वशुर के प्रति निष्ठावान् रहकर (सम्राज्ञी) चक्रवर्ती राजा की रानी के समान प्रकाशमान रहकर पक्षपात रहित प्रवृत्त (भव) हो (श्वश्रवां) सास के प्रति प्रेम पूर्ण व्यवहार वाली होकर (सम्राज्ञी) प्रकाशमान (भव) हो (ननान्दरि) जो तेरी ननद है उससे प्रीतिपूर्ण रह (सम्राज्ञी भव) सम्यक् प्रकार से शोभायमान हो (देवृषु) अपने देवरों के प्रीति प्रीतियुक्त व्यवहार से (सम्राज्ञी) भली भांति आदरसहित शोभायमान (अधि भव) तथा अधिकार युक्त हो, इसलिये सुहुत है ॥ यह सूर्या सावित्री के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ४ ॥

इन चार मन्त्रों से क्रमशः एक-एक करके चार आज्याहुति देकर, एक स्विष्टकृत् आहुति, चार व्याहृति आहुति तथा एक प्राजापत्याहुति अर्थात् सब मिलकर छः आज्याहुति देकर पूर्णहुतिकर वर वधू—

ओम् समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० ८५ । मं० ४७)

इस मन्त्र का उच्चारण कर दोनों दधि प्राशन कर मुखादि प्रक्षालवन करें तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि ॥ *(गोभिलीय गृ० सू० २ । ४ । २१) ॥*

इस वाक्य का उच्चारण कर नमस्ते कहकर दोनों वधूवर वर के माता पिता आदि वृद्धों का प्रीतिपूर्व अभिवादन करें ।

तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे वामदेव्य गान करके अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्रों का पाठ करें । उस समय कार्यार्थ पधारे सब स्त्री पुरुष शान्तिपूर्वक स्थिर चित्त से परमेश्वर का ध्यान करें । तत्पश्चात् वर वधू, पिता आचार्य और पुरोहितादि से कहें—

ओम् स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० १ । क० ८ । स० १५ ॥ वृत्ति) ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें । तत्पश्चात् पिता आचार्य पुरोहित जो विद्वान् हों अथवा उनके अभाव में यदि वर वधू विद्वान् तथा वेदवित् हों तो दोनों यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे श्रद्धा सहित स्वस्तिवाचन का पाठ करें ।

तत्पश्चात् कार्यार्थ पधारे हुए सब स्त्री पुरुष—

ओम् स्वस्ति, ओम् स्वस्ति, ओम् स्वस्ति ॥

इस वाक्य का उच्चारण करें । तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता पिता चाचा भाई आदि पुरुषों को तथा माता चाची भगिनी आदि स्त्रियों को यथोचित सत्कारपूर्वक विदा करें ।

यदि किसी विशेष कारण से श्वशुर गृह में गर्भाधान संस्कार न हो सके तो वधू वर क्षार रहित आहार करते हुए विषय तृष्णा रहित ब्रह्मचर्य्य व्रतस्य रहकर विवाह के चौथे दिन गर्भाधान संस्कार करें अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो तो किसी अन्य दिन गर्भाधान संस्कार कर गर्भाधान करें। यदि वर दूसरे देश से विवाह हेतु आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो उस स्थान में गर्भाधान संस्कार कर गर्भाधान करे।

तत्पश्चात् अपने घर आकर पति श्वशुर, ननद, देवर, देवरानी आदि परिवार के सब मनुष्य वधू का सत्कार करें तथा परस्पर प्रीति युक्त व्यवहारकरें तथा मधुर वाणी, वस्त्र आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सब को सदा प्रसन्न रक्खे। वर वधू के साथ पत्नी व्रतादि सद्धर्म पूर्वक व्यवहार करे तथा वधू भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म तथा उत्तम चाल चलन से पति की आज्ञापालन में सदा उत्सुकता के साथ तत्पर रहे तथा वर भी स्त्री की सेवा ए वम् प्रसन्नता में तत्पर रहे।

॥इति विवाह प्रकरणम्॥

गृहाश्रम संस्कारः ।

गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो वैदिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये, विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना, और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी।

अत्र प्रमाणानि (इसमें प्रमाण) —

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाहः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सोमो वधू युर भवदश्विना स्तामुभावरा ।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्ती मनसा सविता ददात् ॥ १ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० १ । मं० ९) ॥

अर्थ—(सोमः) सुकुमार तथा शुभ गुण युक्त (वधूयुः) वधू की कामनाकरने हारा पति तथा पति की कामना करने हारी वधू (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य्य से विद्या को प्राप्त (अभ्यत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाले (आस्ताम्) होवें, ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुण युक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्तन करने वाली वधू है, उसको पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (अददात्) देता है ॥ १ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । विवाहः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्य ऽश्नुताम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रै र्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० १ । मं० २२) ॥

अर्थ—हे स्त्री और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूँ कि जो तुम्हारे लिये, विवाह के समय पूर्व प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) स्थिर रहो (मा वियौष्टम्) अपनी प्रतिज्ञा से

वियुक्त मत होओ (विश्वम् आयु: वि अश्नु तम्) ऋतुकालाभिगामी होकर वीर्य की रक्षा करते हुए पूर्णायु को प्राप्त होकर पूर्वोक्त धर्मानुसार (पुत्रैः) पुत्र और (नप्तृभि:) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुये (स्वस्तकौ) उत्तम गृह गले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो॥ २॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। दम्पत्योः देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
स्योना श्वश्रवै प्र गृहान् विशेमान्॥ ३॥

(अथर्व० कां० १४। सू० २। मं० २६)॥

अर्थ—हे वरानने ! (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष तथा शोकादि से पृथक् रहने हारी (गृहाणाम्) गृह कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुख युक्त हो के (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वसुर और (श्वश्रवै) सास के लिये (शम्भू:) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर॥ ३॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। दम्पत्योः देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ ४॥

(अथर्व० कां० १४। सू० २। मं० २७)॥

अर्थ—हे वूध ! तू (श्वशुरेभ्य:) श्वाशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिये (स्येना) सुखदाता और (गृहेभ्य:) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो, और (अस्मै) हम (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के लिये (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण में तत्पर (भव) हो॥ ४॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। दम्पत्योः देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरती रपि।
वर्चो न्व१ स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥

(अथर्व० कां० १४। सू० २। मं० २९)॥

अर्थ—(याः) जो (दुर्हादः) दुष्ट अन्तःकरणवाली कुसंस्करों से युक्त (युवतयः) युवतियाँ (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरती) दुष्ट वृद्धा स्त्रियाँ होवें (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेजस्विता (संदत्त) प्रदान करें (अथ) तदनन्तर (अस्तम्) अपने-अपने घरों को (विपरेतन) चली जावें और फिर उसके समीप न आवें ॥ ५ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। दम्पत्योः देवताः। जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

आ रोह तल्पं सुमनस्य मानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥

(अथर्व० १४। का० २। मं० ३१ ॥)

अर्थ—हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्न चित्त होकर (अल्पम्) पर्यङ्क पर (आ रोह) चढ़ कर शयन कर (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रह कर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर (सुबुधा) सुन्दर बुद्धिमान (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के तुल्य तू (उषसः) उषः काल के समान (अग्रा) प्रथम (ज्योतिः) ज्योति के समान (प्रति जागरासि) सावधानी के साथ जागरूक रह ॥ ६ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः। दम्पत्योः देवताः। परानुष्टुप् त्रिष्टुप् छन्दः। गान्धारः, धैवतः स्वरः ॥

देवा अग्रेन्यपद्यन्त पत्नीः समस्प्रशन्त तन्वऽ स्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या संभवेह ॥ ७ ॥

(अथर्व० १४। का० २। मं० ३२)॥

अर्थ—हे सौभाग्य प्रदे ! (नारि) नारी तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यद्यन्त) प्राप्त हुए हैं और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा)

विविध प्रकार के सुन्दर रूपों को धारण करने हारी (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कांति के समान (पत्या) अपने पति के साथ मिलकर (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होने हारी (संभव) भली भांति हो ॥ ७ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतं सोभवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजा कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ३७) ॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषों ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतुकाल में सन्तानों को (सं सृजेयाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो (माता) माता (च) और (पिता) पिता दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करने हारे (भवायः) होवें, हे पुरुष ! (एनाम) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होने वाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिल के (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो (पुष्यतं) पालन पोषणकरो और पुरुषार्थ से (रयिम) धन को प्राप्त होओ ॥ ८ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

तां पूषाञ्छिव तमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति ।
या न उरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेषः ॥ ९ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ३८) ॥

अर्थ—हे (पूषन्) पोषण करने वाले पुरुष ! (यस्याम्) जिसतें (मनुष्या) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य रूपी बीज को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (उरू) उरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेष कर आश्रय करती है (यस्याम्) जिसमें (उशन्ताः) सन्तानों की कामना करते हुए इन (शेषः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेन) प्रहरण करते हैं (वाम्) उस (शिव तमाम) अतिशय कल्याण करने हारी अपनी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । त्रिष्टुप् गर्भा पंक्ति छन्दः । पञ्चम् स्वरः ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ सहसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तरायो जीवावुषसो विभातीः ॥ १० ॥

(अथर्व० कां० २४ । सू० ३ । मं० ४३) ॥

अर्थ—हे स्त्री और पुरुष ! जैसे सूर्य (विमातीः) सुन्दर प्रकाश युक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधिबुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को भली भांति जानने हारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्द युक्त (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए (सुम्) उत्तम चाल चलन से धर्म युक्त व्यवहार से अच्छे प्रकार चलने हारे (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्र वाले (सुगृहौ) उत्तम गृहादि सामग्री युक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवन को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥ १० ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्र वाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ११ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ६४) ॥

अर्थ—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य युक्त विद्वन्, राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्री पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिससे कोई स्त्री पुरुष पूर्ण युवती तथा पूर्ण युवा हुए पूर्व अन्यथा विवाह न कर सकें वैसे (संनुद) सबको प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिये, जिससे ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा को पाकर (दम्पती) पति और पत्नी (चक्रवाक इव) चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधान संस्करोक्त विधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) पूर्ण (आयुः) आयु को (वि अश्वनुताम्) प्राप्त होवें ॥ ११ ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

जनियन्ति वग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासू सचेवहि वृहते वाज सातये ॥ १२ ।

अर्थ—हे मनुष्यों ! (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करने हारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री पुरुष (जनियन्ति) सन्तानोत्पत्ति करते और (पुत्रियन्ति) पुत्र की कामना करते हैं वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें तथा (अरिष्टासू) प्राणों के बल का नाश न करने हारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसात्ये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिये (सचेवहि) सदा कटिबद्ध रहें, जिससे हमारी सन्तान भी उत्तम होवें ॥ १२ ॥ (अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७२) ॥

सावित्री सूर्या ऋषिः । दम्पत्योः देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शत शारदाय ।
गृहान् गच्छ गृह पत्नी यथासो दीर्घंत आयुः सविता कृणोतु ॥ १३ ॥

(अथर्व० कां० १४ । सू० २ । मं० ७५) ॥

अर्थ—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) सौ वर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल तक जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि युक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीघम्) दीर्घकाल पर्यन्त (आयुः) जीवन होवे जैसे (प्र बुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देने हारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे, जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥

अथर्वा ऋषिः । सांमनंस्यम् देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १४ ॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूँ वैसा ही आचरणकरो जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयं) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता पिता, सन्तान, स्त्री पुरुष, भृत्य मित्र पड़ौसी और अन्य सबसे समान हृदय रहो (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) बैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे में (कृणोभि) स्थिर करता हूँ तुम (अध्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातभिव) सद्योत्पन्न बछड़े पर वात्सल्य भाव से जैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (जभिहर्यत) प्रेम पूर्वक, सद्‌भावना युक्त वर्त्ता करो । १४ ॥ (अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० १) ॥

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यम् देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥ १५ ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० ३० मं० २) ॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला (अनुव्रतः) अनुकल अचारणयुक्त (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी सन्तानों के साथ सदा वर्त्ता करो, जैसे (जाया) पत्नी (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमती) माधुर्यगुण युक्त (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले वैसे ही पति भी (शान्तिवान्) शान्त रहकर पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ॥ ५ ॥

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यम् देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) कभी द्वेष न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से कभी (मः) द्वेष कभी न करे, तथा बहिन भाई से भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् रूप से प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से परस्पर (वाँचम्) सुखदायक वाणी बोला करो ॥ १६ ॥ (अथर्व० कां० ३ । सू० ३० मं० ३) ॥

अथर्वा ऋषिः। सामनस्यम् देवताः। अनुष्टुपछन्दः। गान्धारः स्वरः।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥१७॥

अर्थः हे गृहस्थादि मनुष्यो! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक् भाव वाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूँ। (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम) अच्छे प्रकर चिताता हूँ, कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्तकर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यम् देवताः। विराड् जगती छन्दः। निषाद् स्वरः॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट सं राधयन्तः सधुराश्चरन्तः।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ १८॥

(अथर्व० कां० ३। सू० ३० मं० ५)॥

अर्थ—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि गुण युक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिलकर धन धान्य राज्य व समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) करते हुए एक दूसरे को प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक (संमनसः) ऐकमत्य वाले (वः) तुमको (कृणोमि) करता हूँ अर्थात् मैं ईश्वर और तुमको जो आज्ञा देता हूँ, इसको निरालस्य होकर किया करो॥ १८॥

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यम् देवताः। प्रस्तार पंक्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

समानी प्र पा सह वोऽअन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभि मिवाभितः॥ १९॥

(अथर्व० कां० ३। सू० ३० मं० ६)॥

अर्थ—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्र पा) जलपान, स्नानादि का स्थानादि व्यवहार (समानी) एकसा हो (वः) तुम्हारा (अन्न भागः) खान पान (सह) साथ हुआ करे (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान की वल्गाऐं (सह) संयुक्त हो और मैं तुमको धर्म्मादिव्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूँ (अराः) चक्र के अरे (अभितः) चारो ओर से (नाभिम् इव) बीच के नाभिरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् गण तथा यजमान मिलकर यज्ञ में (अग्निम्) अग्नि के माध्यम से जगत् का उपकार करते हैं वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्ति वाले तुम सब मिलकर धर्म युक्त कर्मों को (सपर्यत) तथा एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यम् देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येक श्रुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० ३० मं० ७) ॥

अर्थ—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्तमान् (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एक श्रुष्टीन) एक ही धर्म कृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सबको (संवननेन) धर्म कृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूँ, तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक व पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायं प्रातः) सायं तथा प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेम पूर्वक मिला करो, ऐसा करते हुए (वः) तुम्हारे (सौमनसः) मन का आनन्दपूर्ण शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

कश्यप ऋषिः । ब्रह्मगवी देवताः । प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ॥ २१ ॥

(अथर्व० कां० १२ । सू० ५ मं० १) ॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूँ कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायामादिक तप से (सृष्टा) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या, परमात्मा और धनादि से (वित्त) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न

में और (श्रुते) यथार्थ पक्षपात रहित न्याय रूप धर्म में (श्रिताः) चलने हारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥

कश्यप ऋषिः । ब्रह्मगवी देवताः । भुरिक् साम्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २२ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० २) ॥

अर्थ—(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारो ओर से घिरा हुआ अर्थात् युक्त (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृताः) विशेषतः युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब और से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥

कश्यपः ऋषिः । ब्रह्मगवी देवताः । चतुष्पदा स्वराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोकोनिधनम् ॥ २३ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० ३) ॥

अर्थ—(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूदाः) सब ओर से सबको सत्याचरण प्राप्त कराने हारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) यज्ञ विद्वानों के सत्कार, शिल्पनिद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो, और इन्हीं कर्मों में (निधनाम् लोकः) इस मृत्यु लोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

कश्यप ऋषिः । ब्रह्मगवी देवताः । आसुर्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रिय च श्रीश्चधर्मश्च ॥ २४ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० ७) ॥

अर्थ—हे मनुष्ये ! (ओजः) पराक्रम (च) और इसकी सामग्री (तेजः) तेजस्विता (व) और इसकी सामग्री (सहः) स्तुति निन्दा, हानि, लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन (बलञ्च) बल और उसके साधन (वाक च)

सत्य, प्रिय वाणी और इसके अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त, धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी, सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपात रहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन वा लक्षण हैं, उनको तुम प्राप्त होकर इन्हीं में सदावर्त्ता करो ॥ २४ ॥

कश्यप ऋषिः। ब्रह्मगवी देवताः। भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २५ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० ८) ॥

अर्थ—हे गृहस्थादि मनुष्यों ! तुमको योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सबके उपकारक शमदमादि गुण युक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुण युक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से सम्पन्न क्षत्रिय कुल (राष्टं च) राज्य और उसका न्याय से पालन (विशः च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति, (त्विषश्च) सद्विद्यादि से तेज, आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशः च) कीर्त्ति युक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो (वर्चः च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना (द्रविणं च) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥

कश्यप ऋषिः। ब्रह्मगवी देवताः। आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ २६ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० ९) ॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना (आयुः च) जीवन बढ़ाओ और जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो (रूपं न्च) विषयासक्ति, कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ कर अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो (नाम च) तथा शास्त्रोक्त सुन्दर संज्ञापरक नाम रक्खा करो तथा उसके अनुरूप आचरण किया करो (कीर्तिः च) सत्याचरण से प्राप्त प्रशंसा

को धारण किया करो और गुणों में दोषारोपणारूप निन्दा को छोड़ दो, (प्राणः च) चिरकाल पर्यन्त जीवन का धारण और युक्ताहार विहारादि साधन (अपानः च) सब दु:ख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री (चक्षुः च) प्रत्यक्ष अनुमान तथा उपमान (श्रोत्रं च) शब्द प्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥

कश्यप ऋषिः । ब्रह्मगवी देवताः । उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ २७ ॥

(अथर्व० का० १२ । सू० ५ । मं० १०) ॥

अर्थ—गृहस्थ लोगों ! (पयः च) उत्तम जल, दूध और उसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसः च) घृत, दूध, मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उनसे उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना (पूर्त्तं च) जन हितार्थ कूप, जलाशय, आराम वाटिका तथा विश्रामालय बनाना और बनवाना तथा (प्रजा च) उत्तम प्रजा की उत्पत्ति, उसका पालन और उसकी सदा उन्नति करनी तथा करानी (पशवः च) गौ आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥ २७ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवताः । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥

(यजु० अ० ४० । मं० २) ॥

अर्थ—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होकर (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन् एव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ चर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए

(त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता, और तुम पाप रूप कर्म में कभी मत लिप्त होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति कियाकरो ॥ १ ॥

वामदेवः ऋषिः। प्रजापतिर्देवताः। ब्राह्मयुणिक् छल्दः। ऋषभ स्वरः ॥

भू र्भुवः स्वः सु प्रजाः प्रजाभिः स्याᳪ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳪस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥

(यजु० अ० ३। मं० ३७)॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुष ! मैं तेरे वा अपने के सम्बन्ध से (भू र्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानसिक अर्थात् त्रिविधि सुख से युक्त हो के (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम) होऊँ (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान, (सुवीरः) उत्तम वीरों सहित होऊँ (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोष) उत्तम पुष्टि युक्त होऊँ, हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् ! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये, हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् ! आप (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिए, हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् ! (मे) मेरे (पितुं) पालक अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिए, वैसे ही हे नारी ! प्रशंसनीय गुण युक्त मेरी प्रजा, मेरे पशु तथा मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥

आसुरि ऋषिः। वास्तुपतिरग्निर्देवताः। आर्षी पंक्तिश्च्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं विभ्रत एमसि।
ऊर्जं विभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसामोदमानः ॥ ३ ॥

(यजु० अ० ३। मं० ४१)॥

अर्थ—हे (गृहाः) गृहस्थ लोगों ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा विभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) कम्पायमान मत होओ (ऊर्जम्) अन्न

पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (विभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है, हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण के द्वारा (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको और हे मेरे पूजनीय पितादि लोगों ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (विभ्रवः) धारण करता हुआ तुम (गृहाज्) गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूँ, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होकर वर्त्ता करो ॥ ३ ॥

शंयुः ऋषिः। वास्तुपति रग्निर्देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ ४ ॥

(यजु० अ० ३। मं० ४२)॥

अर्थ—हे गृहस्थों ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका (अध्येति) स्मरण करता है (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों को हम विद्वान् लोग (उप ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते है (ते) गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जानने वाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुदृढ़ जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥

शयु र्बार्हस्पत्यः ऋषिः। वास्तुपतिर्देवताः। भुरिज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवँ शग्मँ शंयोः शंयोः ॥ ५ ॥

(यजु० अ० ३। मं० ४३)॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौं आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देने वाले उपकारी पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि उत्तम पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवें, हम लोग वैसा प्रयत्न सदा किया करें, हे गृहस्थो ! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरूपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ, मैं आप लोग प्रीति से मिलकर (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होकर सब लोगों को सदा सुख दिया करो ॥ ५ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्राभार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्रवै ध्रुवम् ॥ १ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ६०) ॥

अर्थ—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है, और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ १ ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयतेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ६१) ॥

अर्थ—यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ २ ॥

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ६३) ॥

अर्थ—जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से समस्त कुल अप्रसन्न और शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब समस्त कुल आनन्दमय दीखता है ॥ ३ ॥

पितृभि भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ४ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ५५) ॥

अर्थ—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भोजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करे अर्थात् यथा योग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र तथा आभूषणादि से सदा प्रसन्न रक्खें, जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ४ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ५६) ॥

अर्थ—जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा अर्थात् सत्कार नहीं होता, वहाँ जाने उनकी सब क्रिया निष्फल है ॥ ५ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ६ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ५७) ॥

अर्थ—जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकाकुल रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है, और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ६ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्य प्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याह तानीष विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ७ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० ५८) ॥

अर्थ—जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन पुरुषों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों का एक बार नाश कर देवें, वैसे चारो ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरै नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ८॥

(मनु० अ० ३। श्लो० ५९)॥

अर्थ—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण वस्त्र तथा खान पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कार द्वारा प्रसन्न रक्खे॥ ८॥

सदा प्रहृष्टयाभाव्यं गृह कार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चा मुक्तहस्तया॥ ९॥

(मनु० अ० ५। श्लो० १५०)॥

अर्थ—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित रहकर चतुरता से गृह कार्यों में सदा वर्त्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के सत्कार और घर के भोजनादि में जितना नित धनादि लगे उसको यथा योग्य करने में सदा प्रसन्न रहे॥ ९॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिपकृष्ट प्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैभर्तृ गुणैः शुभैः॥ १०॥

(मनु० अ० ९। श्लो० २४)॥

अर्थ—यदि स्त्रियां दुष्टाचार युक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गयी होती हैं और आगे भी होंगी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ, और पुरुष दुष्ट हों तो स्त्रियां भी दुष्ट हो जाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम होकर अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये॥ १०॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्वन॥ ११॥

(मनु० अ० ९। श्लो० २६)॥

अर्थ—सन्तानोत्पत्ति के लिये, महाभाग्योदय करने हारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने कराने हारी घरों में जो स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मी स्वरूप होती हैं, क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है॥ ११॥

उत्पादनम पत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोक यात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्॥ १२॥

(मनु० अ० ९। श्लो० २७)॥

अर्थ—अपत्यों की उत्पत्ति तथा उत्पन्नों का पालन करने आदि लोक व्यवहार को नित्य प्रति जो गृहाश्रम का कार्य होता है उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है॥ १२॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च॥ १३॥

(मनु० अ० ९। श्लो० २७)॥

अर्थ—सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के आधीन होता है॥ १३॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्यवर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ १४॥

(मनु० अ० ३। श्लो० ७७)॥

अर्थ—जैसे वायु के आश्रय से सब प्राणियों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे गृहस्थ के आश्रम से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है॥ १४॥

यस्मांत्रयो ऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थे नैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ १५॥

(मनु० अ० ३। श्लो० ७८)॥

अर्थ—जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्य प्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है॥ १५॥

सः संधार्य प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयभिच्छता।
सुखं चहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ १६॥

(मनु० अ० ३। श्लो० ७९)॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम सुदीर्घकालिक मुक्ति सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करे ॥ १६ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सः त्रीनेतात् विभर्त्तिहि ॥ १७ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० ८९) ॥

अर्थ—वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के मध्य में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि वही ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥ १७ ॥

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥ १८ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० ९०) ॥

अर्थ—जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी समुद्र में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ के आश्रय में स्थिर होते हैं ॥ १९ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १९ ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० १०४) ॥

अर्थ—यदि गृहस्थ होकर पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना, अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १९ ॥

आसन वसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥ २० ॥

(मनु० अ० ३ । श्लो० १०७) ॥

अर्थ—जब गृहस्थ के यहाँअतिथि आवें, तब आसन निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम

का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे, यदि ऐसा न हो तो कभी न समझें॥ २०॥

पाषण्डिनो विकर्म स्थान वैडाल वृतिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तीश्च वाङ् मात्रेणापि नार्चयेत्॥ २॥

(मनु० अ० ४। श्लोक ३०)॥

अर्थ—किन्तु जो पाखण्डी, वेद निन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करने हारे, हिंसक शठ मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वक वृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान, अतिथि वेषधारी बन के आवें, उनका वचन मात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करें॥ २१॥

दशसूना समं चक्रं दश चक्र समोध्वजा।
दश ध्वज समोवेशो दशवेश समो नृपः॥ २२॥

(मनु० अ० ४। श्लोक ८५)॥

अर्थ—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार तथा गाड़ी से जीविका करने हारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी तथा मद्य को निकाल कर बेचने हारे, दश ध्वज के समान वेश अर्थात् वेश्या, भड़वा, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाण मूर्त्तियों के पूजक पुजारी आदि और दश वेश के समान जो अन्यायकारी राजा होता है उसके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें॥ २२॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन।
अजिह्माम शठां शुद्धां जीवेत् ब्राह्मण जीविकाम्॥ २३॥

(मनु० अ० ४। श्लोक ११)॥

अर्थ—गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्र विरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न बर्त्ते किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता मिथ्यापन या अधर्म न हो उस वेदोक्त धर्म सम्बन्धी जीविका को करे॥ २३॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिश्याँश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदर संयतः॥ २४॥

(मनु० अ० ४। श्लोक १७५)॥

अर्थ—किन्तु सत्य धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच अर्थात् पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें, और सत्य वाणी भोजनादि के लोभ रहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़ कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥ २४ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म वर्जितौ।

धर्मं वाप्यसुखोदर्कं लोक वि क्रुष्ट मेव च ॥ २५ ॥

(मनु० अ० ४। श्लोक १७६) ॥

अर्थ—यदि बहुत सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवे और वेद विरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तर काल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाम मात्र और कर्म कभी न किया करें ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥ २६ ॥

(मनु० अ० ५। श्लोक १०६) ॥

अर्थ—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करता है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है किन्तु जल वा मृतिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥ २६ ॥

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेना कार्यकारिणः।

प्रच्छन्न पापाजप्येन तपसा वेद वित्तमाः ॥ २७ ॥

(मनु० अ० ७। श्लोक १०७) ॥

अर्थ—विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्ट कर्म करने वाले सत्सङ्ग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से गुप्त पाप करने हारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥ २७ ॥

अद्भि गीत्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।

विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ २८ ॥

(मनु० अ० ५। श्लोक १०९) ॥

अर्थ—जल से बाह्य अङ्ग पवित्र होते हैं, मन सत्य मानने सत्य बोलने और सत्य व्यवहार करने से शुद्ध होता है, जीवात्मा, विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण से शुद्ध होता है तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है॥ २८॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।

त्र्यवरा वापि वृत्तस्तथातं धर्मं न विचालयेत्॥ २९॥

(मनु० अ० १२। श्लोक ११०)॥

अर्थ—गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राज कार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, नैयायिक मीमांसज्ञ, नैरुक्त अर्थात् निरुक्त शास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों की सभा से कर्त्तव्या-कर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचररण किया करे अथवा अतिन्यूनता करे तौ तीन, ऋग्वेदज्ञ यजुर्वेदज्ञ तथा सामवेदज विद्वानों के मतानुसार आचरण किया करे॥ २९॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ ३०॥

(मनु० अ० ७। श्लोक १८)॥

अर्थ—जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं वैसा सब लोग जानें क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है चौरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते॥ ३०॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।

समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थ कोविदम्॥ ३१॥

(मनु० अ० ७। श्लोक २६)॥

अर्थ—उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी विचार करके ही कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम, और अर्थ का यथावत् जानने हारा हो॥ ३१॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत बुद्धिना।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥ ३२॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ३०)॥

अर्थ—जो राजा उत्तम सहाय रहित, मूढ़, लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, जो विषयों में लिप्त है, उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता है॥ ३२॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ ३३॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ३१)॥

अर्थ—इसलिये जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है॥ ३३॥

अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डया""श्चैवाप्य दण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ ३४॥

(मनु० अ० १। श्लोक १२६)॥

अर्थ—जो राजा निरपराधों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मृत्योपरान्त नरक अर्थात् महादुःख पाता है॥ ३४॥

मृगयाक्षा दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ३५॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ४७)॥

अर्थ—मृगया अर्थात् शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिये भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठठ्ठा मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास व उनमें मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना बजाना, नाचना वा इनका देखना और वृथा इधर उधर घूमते फिरना ये दश दुर्गुण काम से उत्पन्न होते हैं॥ ३५॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थ दूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजो ऽपि गणोष्टकः॥ ३६॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ४८)॥

अर्थ—चुगली खाना, बिना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा बैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखकर हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कार्यों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और बिना विचारे पक्षपात से किसी को कठोर दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोध से उत्पन्न होते हैं। ये अठारह दुर्गुण हैं, इनको राजा अवश्य छोड़ देवे ॥ ३६ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेता वुभौ गणौ ॥ ३७ ॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ४९) ॥

अर्थ—इन कामज और क्रोधज अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं, इसलिये हे गृहस्थ लोगों ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो परन्तु ऐसे दोष वाले मनुष्य को राजा कभी न बनाना, यदि भूल से हुआ हो तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को जो कि राजा के कुल का हो उसी को राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ॥ ३७ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ३८ ॥

(मनु० अ० १२। श्लोक १००) ॥

अर्थ—जो वेदशास्त्रवित, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्ड नीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ॥ ३८ ॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्ध लक्षान्कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ३९ ॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ५४) ॥

अर्थ—जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे शूरवीर जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा तथा स्वराज्य भक्त हों, उन सात वा

आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री नियुक्त करें, और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य कार्यों का विचार किया करें ॥ ३९ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्रज्ञान वस्थितान्।
सभ्यगर्थ समाहर्तृनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ४० ॥

अर्थ—इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारीं जितने पुरुषों से राज्य कार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र, धार्मिक विद्वान्, चतुर, स्थित बुद्धि पुरुषों को राज्य सामग्री के वर्द्धक नियत करे ॥ ४० ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम्।
इङ्गिताकार चेष्टज्ञं शुचि दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ४१ ॥

(मनु० अ० ७। श्लोक ६३) ॥

अर्थ—जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध बड़ा स्मृतिमान्, देशकाल जानने हारा, स्वरूपवान, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उसी को मुख्य दूत और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे ॥ ४१ ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ४२ ॥

(मनु० अ० ७। श्लोक १०१) ॥

अर्थ—राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दण्ड से और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्य विद्या और सत्य धर्म के प्रचार आदि कार्यों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों को व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ॥ ४२ ॥

विधि—स्त्री पुरुष सदा रात्रि में दश बजे शयन और रात्रि के अन्तिम प्रहर वा चार बजे उठकर प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान का उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़े किन्तु शरीर

शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार और औषध सेवन, सुपथ्यादि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना को किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपा दृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इसके लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं—

वसिष्ठः ऋषिः। लिङ्गोक्ताः देवताः। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगंपूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम॥ १॥

(ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० १)॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात बेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) प्रातः (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त (प्रातः) प्रातः (मित्रा वरुणा) प्राण और उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् (प्रातः) प्रातः (अश्विना) सूर्य और चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं और (प्रातः) प्रातः (भगम्) भजनीय, सेवनीय, तथा ऐश्वर्ययुक्त (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिं) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करने हारे (प्रातः) प्रातः (सोमम्) अन्तर्यामी प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलाने हारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो॥ १॥

वसिष्ठ ऋषिः। भगः देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यंभगं भक्षीत्याह॥ २॥

(ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० १)॥

अर्थ—(प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्र रूप सूर्य की उत्पत्ति करने हारे (यः) और जो कि सूर्यादि लोकों को (विधर्ता) विशेष धारण करने हारा (आध्रः) सब ओर से सब का धारण कर्त्ता (यंचित्) जिस किसी का भी

(मन्यमानः) जानने हारा (तुरक्षित्) दुष्टों का भी दण्डदाता और (राजा) सब का प्रकाशक है (यं) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को (चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूँ इसी प्रकार भगवान सबको उपदेश करता है तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करने हारा हूँ। उस मेरी उपासना किया करो और मेरी आज्ञा में चला करो, जिससे तुम लोग सदा उन्नतिशील रहो, इससे (वयम्) हम लोग उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं॥ २॥

वसिष्ठः ऋषिः । भगः देवताः । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

भग प्रणेतर्भग सत्य राधो भगेमां धियमुदवाददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

(ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० ३) ॥

अर्थ—हे (भग) भजनीय स्वरूप (प्रणेतः) सबके उत्पादक तथा सत्याचार में प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देने हारे (भग) सत्याचरण करने हारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ! (नः) हमको (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये, और उसके दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये, हे (भग) ऐश्वर्यमय आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्य श्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये हे (भग) ऐश्वर्यवन् आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्य (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें॥ ३॥

वसिष्ठः ऋषिः । भगः देवताः । पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वउत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

(ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० ४) ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता, तथा उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें (उत) और हे (मघवन्) परम पूजित असंख्य धन देने हारे !

उसका प्रकार, उसके आरम्भ में ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत सन्ध्या का विधान वर्णन करता हूँ। उसमें सन्ध्या शब्द का अर्थ, भली भांति ध्यान करना व भले प्रकार ध्यान किया जाए उस परमेश्वर का वह सन्ध्या है। रात्रि और दिन की दोनों सन्धि वेलाओं में सब मनुष्यों को अवश्यमेव परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करणीय है।

प्रथम शरीर शुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके, योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर पश्चात् सन्ध्योपासना का आरम्भ करें। प्रथम प्रातःकाल आसन पर पूर्वाभिमुख तथा सायंकाल पश्चिमाभिमुख अथवा जिधर का वायु बह रहा हो उधर मुख कर स्थिर बैठ दक्षिण हाथ में जल लेकर—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० १। कं० २४। १२, २१, २२) ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक-एक मन्त्र से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धोकर—

ओम् वाङ्मऽआस्ये अस्तु ॥ १ ॥ *इस मन्त्र से मुख,*

ओम् नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ २ ॥ *इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,*

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ ३ ॥ *इस मन्त्र से दोनों नेत्र,*

ओम् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ ४ ॥ *इस मन्त्र से दोनों कान,*

ओम् वाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ ५ ॥ *इस मन्त्र से दोनों बाहु,*

ओम् ऊर्वोर्मऽ ओजोऽस्तु ॥ ६ ॥ *इस मन्त्र से दोनों जंघा,*

ओम् अरिष्टानि मे ऽङ्गानि तनू स्तन्वा मे सह सन्तु ॥ ७ ॥

मेरे शरीर के समस्त अरिष्ट दूर होकर शरीर सक्षम हो।

(तुलना, पारस्कर, गृ० सू० का० १। कं० ३। सू० २५) ॥

बायें हाथ में जल लेकर दाहिने हाथ से कुशा व हाथ से जल का स्पर्श कर अङ्ग स्पर्श तथा सातवें मन्त्र से समस्त शरीर पर मार्जन करें। तत्पश्चात् विषय विषयक सङ्कल्पोच्चारण करें—

(सूर्यस्य) सूर्य लोक के उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् आप लोगों को (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रजा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥ ४ ॥

वसिष्ठः ऋषिः। भगः देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेने वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

(ऋ० मं० ७ । सू० ४१ । मं० ५) ॥

अर्थ—हे (भग) सकल ऐश्वर्य सम्पन्न जगदीश्वर ! जिससे (तं) उस (त्वा) आपकी (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्य कर्मों में बढ़ाने हारे (भव) होइये और जिससे (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्य और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिये (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्य सम्पन्न होकर सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

प्रातःकाल जागकर उपर्युक्त मन्त्रों का उच्चारण एवम् अर्थ चिन्तन करते हुए परमेश्वर की प्रार्थना व उपासना करनी।

तत्पश्चात् शौच, दन्त धावन, मुख प्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश जङ्गल में जाकर योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपसना कर सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आकर सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें।

अथ ब्रह्म यज्ञः।

तेषां प्रकार। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गत सन्ध्या विधानं प्रोच्यते। तत्र संध्या शब्दार्थः—सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या। तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धि वेलायामुभयोस्सन्धयोः सर्वैर्मनुष्यैर वश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुति प्रार्थनोपासनाः कार्याः।

ओम् तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे श्वेत वाराह कल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशति तमे, कलियुगे, कलिप्रथम चरणे, जम्बू द्वीपे, भरतखण्डे आर्यावर्त्तान्तर (अमुक) प्रदेशे, (इयनमिते) वैक्रमाब्दे, (अमुक) गोले,(अमुक) अयने,(अमुक) ऋतौ,(अमुक) मासे, (अमुक) पक्षे,(अमुकायां) तिथौ,(अमुक) वासरे,(अमुक) नक्षत्रे,(अमुक) लग्ने,(अमुक) मुहुर्त्ते,(अमुक) जनपदे,(अमुक) मण्डले,(अमुक) स्थान वास्तव्यः,(अमुक) कुलोत्पन्न,(अमुक) गोत्रोत्पन्न,(अमुक) नामाऽहं,(अमुक) कृत्यं करिष्ये। तत्पश्चात् कम से कम तीन तथा अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करें—

प्राणायाम विधि—शुद्ध देश में पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु बह रहा हो, उधर को मुख कर सीधे स्थिर बैठ, नाभि के नीचे से मूलेन्दिय को ऊपर की ओर आकुञ्चन करते हुए हृदय से वायु को बल पूर्वक बाहर निकाल कर यथाशक्ति बाहर रोके, पश्चात् धीरे-धीरे वायु को भीतर लेकर थोड़ा सा भीतर रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। प्राणायाम करते समय "ओम्" का मानसिक जप करता जाय। तत्पश्चात् सावित्री मन्त्र का उच्चारण कर शिर के बिखरे हुए केशों को एकत्रित कर शिखा बन्धन करें।

विश्वामित्रः ऋषिः। सविता देवताः। दैवी बृहती छन्दः, निचृद् गायत्री छन्दः। मध्यम स्वरः षड्जः स्वरः॥

ओम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुवरैण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ *(यजु० अ० ३६। मं० ३)॥*

रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर से प्रार्थित होकर सब भले कार्यों में सदा सर्वत्र हमारी रक्षा करे।

अथाचमन मन्त्रः

दध्यङ्ङाथर्वणः ऋषिः। आपः देवताः। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

ओम् शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।

शं यो रभि स्रवन्तु नः ॥ *(यजु० अ० ३६। मं० १२)॥*

अर्थ—(देवी) सब का प्रकाशक (आपः) सबको आनन्द देने वाला सर्वव्यापक ईश्वर (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द तथा (पीतये) पूर्णानन्द प्राप्ति के लिये (नः) हमको (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो अर्थात् हमारा कल्याण करे, वही परमेश्वर (नः) हम पर (शं योः) सुख की (अभि स्रवन्तु) सर्वथा वृष्टि करे।

इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना कर, मन्त्र को एक-एक बार पढ़ कर तीन आचमन करें। यदि जल न हो तो न करे। परन्तु यथाशक्ति जल के समीप ही संध्या वन्दन करे।

पश्चात् पात्र में से बांयी हथेली में जल लेकर दायें हाथ की मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण तथा पश्चात् वाम पार्श्व निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करें—

अथेन्द्रिय स्पर्शः

ओम् वाक् वाक् ॥

इस मन्त्र से प्रथम, मुख का दक्षिण और पश्चात् वाम पार्श्व ॥

अर्थ—मेरी वाणी वाक् शक्तियुक्त हो।

ओम् प्राणः प्राणः ॥ *इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरी नासिका प्राण शक्ति युक्त हो।

ओम् चक्षुः चक्षुः ॥ *इस मन्त्र से दक्षिण और वाम नेत्र।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरे नेत्र दर्शन शक्ति युक्त हों।

ओम् श्रोत्रम् श्रोत्रम् ॥ *इस मन्त्र से दक्षिण और वाम श्रोत्र।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरे श्रोत्र श्रवण शक्ति युक्त हों।

ओम् नाभिः ॥ *इस मन्त्र से नाभि।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरी नाभि व्यवस्थित रहे।

ओम् हृदयम् ॥ *इस मन्त्र से हृदय।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरा हृदय सरल, सबल तथा उदार हो।

ओम् कण्ठः ॥ *इस मन्त्र से कण्ठ।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरा कण्ठ ओज तथा मधुरता युक्त हो।

ओम् शिरः ॥ *इस मन्त्र से मस्तक।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरा मस्तक विचारशीलता से युक्त हो।

ओम् बाहुभ्यां यशोबलम् ॥

इस मन्त्र से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध, प्रथम दक्षिण पश्चात् वाम।

अर्थ—परमात्मन् ! मेरी भुजाऐं यश तथा बल युक्त हों।

ओम् करतल् कर पृष्ठे ॥

अर्थः - हे परमात्मन् ! मेरी हथेलियां दान कीजिये मुझको हे।

इस मन्त्र से दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करें।

अथेश्वर प्रार्थनापूर्वक मार्जन मन्त्राः—

ओम् भूः पुनातु शिरसि ॥ *इस मन्त्र से शिर पर।*

अर्थ—परमात्मन् ! मेरे शिर को प्राण शक्ति से पवित्र कीजिये।

ओम् भुवः पुनातु नेत्रयो ॥ *इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर।*

अर्थ—हे सर्व दुःखनाशक परमात्मन् ! मेरे नेत्रों को पवित्र कीजिये।

ओम् स्वः पुनातु कण्ठे ॥ *इस मन्त्र से कण्ठ पर।*

अर्थ—हे सुखस्वरूप परमात्मन् ! मेरे कण्ठ को पवित्र कीजिये।

ओम् महः पुनातु हृदये ॥ *इस मन्त्र से हृदय पर।*

अर्थ—हे महान प्रभो ! मेरा हृदय पवित्र कीजिये।

ओम् जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ *इस मन्त्र से नाभि पर।*

अर्थ—हे सर्वोत्पादक परमात्मन् ! आप मेरी नाभि पवित्र कीजिये।

ओम् तपः पुनातु पादयोः ॥ *इससे दोनों पैरों पर।*

अर्थ—हे तपोभूत सर्वाश्रय परमात्मन् ! मेरे पैरों को पवित्र कीजिये।

ओम् सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि ॥ *इस मन्त्र से पुनः शिर पर।*

अर्थ—हे सत्य स्वरूप भगवन् ! मेरे शिर को पुनः पवित्र कीजिये।

ओम् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

इस मन्त्र से शरीर के सब अङ्गों पर जल से मार्जन करें।

अर्थ—हे सर्वव्यापक परमात्मन्! मुझे सब ओर से पवित्र कीजिये।

अथ प्राणायाम मन्त्राः—

पुनः पूर्वोक्त विधि से प्राणायाम की क्रिया करता जाए तथा निम्नलिखित प्राणायाम मन्त्र का मन में जप भी करता जाए—

ओम् भूः, ओम् भुवः, ओम् स्वः, ओम् महः, ओम् जनः, ओम् तपः, ओम् सत्यम्॥ *(तैत्तिरीयारण्यक प्र० १० । अनु० २७)॥*

अर्थ—हे सर्वरक्षक, प्राणस्वरूप सर्वाधार, सर्वदुःखनाशक, सुखस्वरूप, अत्यन्त महान्, सबके उत्पत्ति कर्त्ता, परम तपस्वी तथा सत्य स्वरूप हो।

इसी रीति से न्यून से न्यून तीन तथा अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करें।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार "अघमर्षण" मन्त्रों से करें और जगदीश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा औ मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे—

अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ऋषिः। भावसूक्तम् देवताः। विराटनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥

(ऋ० मं० १० । सू० १९० । मं० १)॥

अर्थ—(ऋतं) उसी परमात्माने अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्याओं का भण्डार वेद शास्त्र को प्रकाशित किया, जैसा कि पूर्व सृष्टि में प्रकाशित था। और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा (च) और (सत्यं) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत, सत्, प्रधान और प्रकृति है, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, (अभीद्धात् तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित, और सब जगत्

के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है। जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्य जायत) अर्थात् कार्य रूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है, (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पश्चात् हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद मं० १०। सू० १२९। मं० ३, का प्रमाण "तम आसीत्तमसा गूढ मग्रे"० जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकार रूप रहता है, और उसी अन्धकार में सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुये रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है। (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और अन्तरिक्षस्थ मेघ मण्डल रूपी महासमुद्र पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है॥ १॥

अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ऋषिः। भाव वृत्तम् देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥

(ऋ० मं० १०। सू० १९०। मं० २)॥

अर्थ—(समुद्रादर्णवादधि) उस महान् समुद्र की उत्पत्ति के पीछे (संवत्सरो अजायत) सम्वत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान व्यक्त हुआ (अहोरात्राणि) उसी ईश्वर ने सहज स्वभाव से रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व सृष्टि में थे वैसे ही (विदधत्) रचे और (विश्वस्य मिषतः) उसी परमात्मा ने सहज स्वभाव से (वशी) अपने आधीन रक्खा है॥ २॥

अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ऋषिः। भाव वृत्तम् देवताः। पाद निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

(ऋ० मं० १०। सू० १९०। मं० ३)॥

अर्थ—(धाता) सब जगत् का धारण और पोषण करने वाले परमेश्वर ने (यथापूर्वम्) जैसा कि उस सर्वज्ञ के विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था और (यथापूर्वम्) जिस प्रकार पूर्व कल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे उनके अनुसार मनुष्यादि प्राणियों के शरीर बनाये हैं (सूर्या चन्द्रमसौ) जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र लोक रचे थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में रचा है, तथा (पृथिवीम्) भूमि जैसी प्रत्यक्ष दीखती है (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्य्य लोक के मध्य में अवकाश है (स्वः) जितने आकाश के मध्य में लोक हैं उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादि काल से लोक लोकान्तर को जगदीश्वर रचा करता है, वैसे ही अब भी रचे हैं और आगे भी रचेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता, किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एक रस ही रहता है, उसमें वृद्धि ह्रास और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से "यथापूर्वमकल्पयत्" इस पद का ग्रहण किया है॥ ३॥

"शन्नो देवी" इस मन्त्र से पुनः तीन आचमन कर सावित्री मन्त्र से अघमर्षण मन्त्र पर्यन्त मन्त्रों के अर्थ विचार करें।

अथ मनसा परिक्रमा मन्त्राः

अथर्वा ऋषिः। प्राची अग्निः, असितः आदित्या देवताः। अष्टिः छन्दः। निषाद स्वरः॥

ओम् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमऽएभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

(अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० १)॥

अर्थ—(प्राची दिक्) पूर्व दिशा के (अग्निः अधिपतिः) **ज्ञान स्वरूप** अधिपति, जो सब जगत् का स्वामी है (असितः) बन्धन रहित, (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करने वाला (आदित्या इषवः) जिसके बाण आदित्य की किरण हैं (तेभ्यः अधिपतिभ्यो नमो नमः) उस सब गुणों के अधिपति ईश्वर के गुणों

को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं (रक्षितृभ्यो नम) जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो (इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) और पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो, इसलिये (योऽस्मान् द्वेष्टि) जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिस अज्ञानवश धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं (तं वो जम्भे दध्मः) उन सबकी बुराई को उन बाण रूप किरण रूप मुख के मध्य में दग्ध कर देते हैं, कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें और कोई भी प्राणी हम से बैर न करे, किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें ॥ १ ॥

अथर्वा ऋषिः । दक्षिणा इन्द्रः तिरश्चि राजी, पितरः देवताः । अत्यष्टि छन्दः । निषाद स्वरः ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितरइषवः । तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम ऽइषुभ्यो नमऽएभ्योऽ अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० २) ॥

अर्थ—(दक्षिणा दिक्) जो हमारे दक्षिण दिशा (इन्द्रोऽधिपतिः) का स्वामी इन्द्र जो पूर्ण ऐश्वर्य वाला है (तिरश्चि राजी) जो कीट पतङ्ग वृश्चिकादि जो तिर्यक् कहाते हैं उनकी जो पंक्ति अर्थात् समूह है उनसे (रक्षिता) रक्षा करने वाला एक परमेश्वर है (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं, उन सब गुणों के स्वामी ईश्वर के गुणों को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं। जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो और जो पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है और अज्ञानवश जिस धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाण रूप, किरण रूप मुख में दग्ध कर देते हैं, जिससे किसी से हम लोग बैर. न करें और कोई भी प्राणी हमं से बैर न करे, किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें ॥ २ ॥

अथर्वा ऋषिः । प्रतीची, वरुण, पृदाकुः, अन्नम् देवताः । अष्टिः छन्दः । निषाद स्वरः ॥

प्रतीची दिग्वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम ऽइषुभ्यो नमऽएभ्योऽ अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० ३) ॥

अर्थ—(प्रतीची दिग्) पश्चिम दिशा (वरुणो ऽधिपतिः) का अधिपति वरुण, जो सबसे उत्तम, सबका राजा परमेश्वर है, (पृदाकू) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पादि प्राणियों से (रक्षिता) रक्षा करने वाला है (अन्नम् इषवः) जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं, उन सब गुणों के स्वामी ईश्वर के गुणों को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं। जो ईश्वर के गुण ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो, और जो पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है और अज्ञानवश जिस धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाण रूप किरण रूप मुख में दग्ध कर देते हैं, जिससे किसी से हम लोग बैर न करें, और कोई भी प्राणी हमसे बैर न करे। किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें ॥ ३ ॥

अथर्वा ऋषिः । उदीची, सोमः, स्वजः, अशनि देवताः । अष्टि छन्दः । निषाद स्वरः ॥

उदीच्री दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः । तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम ऽइषुभ्यो नमऽएभ्योऽ अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० ४) ॥

अर्थ—(उदीची दिक्) उत्तर दिशा का (सोमो ऽधिपतिः) शान्त्यादि गुणों से आनन्द करने वाला सब जगत् का उत्पत्ति कर्त्ता सोम अर्थात् परमात्मा स्वामी है (स्वज़ो) जो अजन्मा (रक्षिता) और रक्षा करने वाला है, (अशनिः इषवः) विद्युत्

जिसका बाण है, उन सब गुणों के स्वामी ईश्वर के गुणों को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते हैं। जो ईश्वर के गुण, ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो, और जो पापियों को बाणों समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है और अज्ञानवश जिस धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाण रूप, किरण रूप मुख में दग्ध कर देते हैं, जिससे किसी से हम लोग बैर न करें, और कोई भी प्राणी हमसे बैर न करे। किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें॥ ४॥

अथर्वा ऋषिः। ध्रुवा, विष्णु, कल्माष ग्रीवः, वीरुधः देवताः। भुरिगष्टि छन्दः। निषाद स्वरः॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध ऽइषवः। तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम ऽइषुभ्यो नमऽएभ्योऽ अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

(अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० ५)॥

अर्थ—(ध्रुवा दिक्) नीचे की दिशा का (विष्णुः अधिपतिः) विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा अधिपति अर्थात् स्वामी है (कल्माषग्रीवा) हरित रङ्ग वाले वृक्षादि जिसकी ग्रीवा के सदृश हैं (रक्षिता वीरुध इषवः) जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं, उनसे अधोदिशा में अर्थात् भूमि पर हमारी रक्षा करे। सब गुणों के स्वामी ईश्वर के गुणों को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं। जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो, और जो पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिये जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है और अज्ञानवश जिस धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं, उन सबकी बुराई को उन बाण रूप किरण रूप मुख में दग्ध कर देते हैं, जिससे किसी से हम लोग बैर न करे, और कोई भी प्राणी हमसे बैर न करे। किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें॥ ५॥

अथर्वा ऋषिः । ऊर्ध्वा, बृहस्पति, श्वित्रः, वर्षम् देवताः । अष्टिः छन्दः । निषाद स्वरः ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्ष मिषवः । तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम ऽइषुभ्यो नमऽएभ्योऽ अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

(अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० ६) ॥

अर्थ—(ऊर्ध्वा दिग्) ऊर्ध्व दिशा (बृहस्पतिरधिपतिः) का बृहस्पति अर्थात् बृहत् वेद वाणी तथा महान् आकाशादि का स्वामी परमात्मा है (श्वित्रो वर्ष मिषवः) वर्षा के बिन्दु जिसके बाण के समान हैं, (रक्षिता) उनसे हमारी रक्षा करे। सब गुणों के स्वामी ईश्वर के गुणों को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं। जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं उनको हमारा नमस्कार हो, और जो पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसीलिये जो प्राणी अज्ञानवश हमसे द्वेष करता है, और अज्ञानवश जिस धार्मिक पुरुष से तथा पापी पुरुष से हम द्वेष करते हैं, उन सबकी बुराई को उन बाण रूप किरण रूप मुख में दग्ध कर देते हैं, जिससे किसी से हम बैर न करें और कोई भी प्राणी हमसे बैर न करे। किन्तु हम लोग परस्पर मित्र भाव से वर्त्तें ॥ ६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को व्यापक जान कर निर्भय निशङ्क उत्साही आनन्दित तथा पुरुषार्थी रहना।

अथोपस्थान मन्त्राः

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अति निकट व्यापक परमात्मा है, ऐसी बुद्धि करके करें।

आदित्या देवाः ऋषिः । सूर्यो देवताः । विराडनुष्टुप छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योति रुत्तमम् ॥ १ ॥

(यजु० अ० ३५ । मं० १४) ॥

अर्थ—हे परमेश्वर ! (तमसः परि) समस्त अज्ञान व अन्धकार से पृथक् (स्वः) सर्वानन्द स्वरूप एवम् प्रकाशस्वरूप, हम लोग आपको (उत्तरम्) प्रलय के भी पश्चात् सर्वदा वर्तमान (पश्यन्त) देखते हैं (देवं देवत्रा) समस्त दिव्य गुण युक्त पदार्थों से भी अनन्त दिव्य गुण युक्त, देवों में भी देव, अर्थात् प्रकाश करने वालों का भी प्रकाशक (सूर्य्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिः) ज्ञानस्वरूप (उत्तमम्) और सब से उत्तम आपको जान के (वयम्) हम लोग (उदगन्म्) अत्यन्त श्रद्धान्वित होकर आपकी शरण हैं। हमारी रक्षा करना आपके हाथ है ॥ १ ॥

प्रस्कण्वः ऋषिः । सूर्य्यो देवताः । भूरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

उदुत्यञ्जातवेद सन्देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ २ ॥

(यजु० अ० ७ । मं० ४१) ॥

अर्थ—(जात वेदसम्) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है वही परमेश्वर जातवेदा नाम से प्रसिद्ध है (देवम्) जो सब देवों का देव और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है (त्यम्) उसी परमात्मा को (दृशे विश्वाय) विश्व विद्या प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते हैं (उद्वहन्ति केतवः) केतवः वेद की श्रुति और जगत् के पृथक् पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते हैं। उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करें, अन्य किसी की नहीं ॥ २ ॥

कुत्स ऋषिः । सूर्य्यो देवताः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

चित्रन्देवाना मुदगाद नीकञ्चक्षुर्मित्रस्य वरुण स्याग्नेः ।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्यऽ आत्मा जगतस्तस्थु स्वाहा ॥ ३ ॥

(यजु० अ० ७ । मं० ४२) ॥

अर्थ—(सूर्य आत्मा) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है उसको सूर्य कहते हैं (आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्) जो सूर्यादि सब लोकों को बनाके

धारण और रक्षण करने वाला है (चक्षुः मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् राग द्वेष रहित मनुष्य तथा सूर्य लोक और प्राण का चक्षुः अर्थात् प्रकाश करने वाला है, (वरुस्य अग्नेः) सब उत्तम कार्यों में जो वर्तमान मनुष्य, प्राण अपान और अग्नि का प्रकाश करने वाला है (चित्रं देवानां) जो अद्भुत स्वरूप विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है (अनीकम्) जो सब मनुष्यों के समस्त दुःख नाश करने के लिये परमोत्तम बल है, वह परमेश्वर (उदगात) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे॥ ३॥

दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। सूर्यो देवताः। भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

तच्चक्षुर्देवहितम्पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतञ्जीवेम शरदः शतँ श्रृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥

(यजु० अ० ३६। मं० २४)॥

अर्थ—(तत् चक्षुः) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा (देवहितम्) धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा (पुरस्तात् शुक्रम्, उच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता है और सब जगत् का रचने वाला है। (पश्येम शरदः शतं) उसी ब्रह्म को हम सौ वर्ष पर्यन्त देखें (जीवेम शरदः शतं) सौ वर्ष पर्यन्त जियें, (श्रृणुयाम शरदः शतं) उसी ब्रह्म को सौ वर्ष पर्यन्त सुनें, (प्रब्रवाम शरदः शतं) सौ वर्ष पर्यन्त उसी ब्रह्म का उपदेश करें (अदीना स्याम शरदः शतं) पर ब्रह्म की कृपा से सौ वर्ष पर्यन्त किसी के अधीन न रहें (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्ष के उपरान्त भी हम लोग देखें, जियें, सुने, सुनावें और स्वतन्त्र रहें॥ ४॥

प्रेम में अत्यन्त मग्न होकर अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़ के इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें।

अथ गुरु मन्त्रः

सावित्री मन्त्र (गायत्री मन्त्र) का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति और प्रार्थनोपासना करें।

विश्वामित्रः ऋषिः। सविता देवताः। दैवी बृहती छन्दः, निचृद् गायत्री छन्दः। मध्यम स्वरः, षड्ज स्वरः॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्॥

(यजु० अ० ३६। मं० ३)॥

जो अकार उकार और मकार के योग से "ओम्" यह अक्षर सिद्ध है। "अव" रक्षणे धातु से "मन्" प्रत्यय करने पर "ओम्" शब्द सम्पन्न होता है सो यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। ओम् अव्यय है तथा इसका दैवी गायत्री छन्द है।

अकार से—

विराट्, जो सब जगत् का प्रकाश करने वाला है।

अग्नि, जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है।

विश्वः, जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है।

उकार से

हिरण्य गर्भः, जिसके गर्भ में प्रकाश करने वाले सूर्यादि लोक हैं और जो प्रकाश करने हारे सूर्यादि लोकों का अधिष्ठान है।

वायु जो अनन्त बल वाला और सब जगत् का धारण करने हारा है।

तैजसः, जो स्व प्रकाश स्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है।

तथामकारसे—

ईश्वर जो सब जगत् का उत्पन्न कर्त्ता, सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है।

आदित्य, जो नाश रहित है।

प्राज्ञ, जो ज्ञान स्वरूप और सर्वज्ञ है।

भूरिति वै प्राण, जो सब जगत् का जीने का हेतु, सर्वाधार और प्राणों से भी प्रिय है। इससे उस परमेश्वर का नाम भूः है।

भुवरित्यपानः, जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्त पुरुषों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुखी रखता है। इसलिये उस परमेश्वर का नाम भुवः है।

स्वरिति व्यानः जो सब जगत् में व्यापक होके सब को नियम में रखता है और सब के ठहरने का स्थान तथा सुख स्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम स्वः है।

(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करने हारा जो सब ऐश्वर्य का देने वाला है (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करने वाला और सुखों का दाता है उसका (वरेण्यम्) अत्यन्त ग्रहण करने योग्य (भर्गोः) जो शुद्ध विज्ञान स्वरूप है (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेम भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें कि (यः) जो सवितादेव परमेश्वर है वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कार्यों से पृथक् करके, सदा उत्तम कार्यों में प्रवृत्त करे।

सावित्री मन्त्र (गायत्री मन्त्र) का उच्चारण, अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार अपने आचरण तथा व्यवहार को करे। परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।

अथ समर्पणम

इस प्रकार सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके परमेश्वर के प्रति समर्पण करे।

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयानेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थ काम मोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥

अर्थ—हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं जिससे हम लोग आपको प्राप्त होकर धर्म जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम—जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है और मोक्ष—जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो।

तत् ईश्वरं नमस्कुर्यात्

इसके पश्चात् ईश्वर को नमस्कार करे—

परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः ऋषिः । रुद्राः देवताः । स्वराडार्ची बृहती छन्दः । मध्यम स्वरः ॥

ओम् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च,
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च,
नमः शिवाय च, शिवतराय च ॥ *(यजु० १६ । मं० ४१)*

अर्थ—(नमः शम्भवाय च) जो सुख स्वरूप (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों को देने वाला (नमः शङ्कराय च) कल्याण का कर्त्ता, मोक्ष स्वरूप, धर्म युक्त कार्यों को ही करने वाला (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख का देने वाला और धर्म युक्त कार्यों में संयुक्त करने वाला, (नमः शिवाय च) अत्यन्त मङ्गल स्वरूप और (शिवतराय च) धार्मिक मनुष्यों को अत्यन्त आनन्ददायक मोक्ष सुख देने हारा है। उसको हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

इति ब्रह्म यज्ञान्तर्गत सन्ध्योपासन विधिः ॥

अथ द्वितीयो ऽग्नि होत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते ।

अथाग्निहोत्रम् ।

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धि वेलाओं में सन्ध्योपासन करें वैसे ही दोनों स्त्री पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य करें। किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़ कर दो-दो आहुति करे।

यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर स्थित हो दैनिक सङ्कल्प, आचमन, अङ्ग स्पर्श, अग्न्याधान, समिदाधान, तथा प्रथम तप्त सुगन्धि युक्त घृत से पञ्च घृताहुति, कुण्ड के चारो ओर जल प्रोक्षण तथा घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति करके नीचे लिखे मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओम् सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(सूर्य्यो ज्योति) जो चराचर का आत्मा प्रकाश स्वरूप और सूर्यादि लोकों का भी प्रकाशक है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग आहुति देते हैं॥ १ ॥ (तु० यजु० अ० ३। मं० ९। १०)॥

ओम् सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(सूर्यो वर्चो ज्यो०) जो सूर्य परमेश्वर हमको सब विद्याओं का देने वाला और हम लोगों से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह के लिये हम लोग आहुति देते हैं॥ २ ॥

ओम् ज्योतिः सूर्य्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(ज्योतिः सूर्यः) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला सूर्य्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसी के अनुग्रह प्राप्ति के लिये हम लोग आहुति देते हैं॥ ३ ॥

ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्र वत्या। जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(सजूर्देवेन) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्यापक, वायु और दिन के साथ परिपूर्ण सब प्रीति करने वाला, सब के अङ्ग अङ्ग में व्याप्त है। वह अग्नि परमेश्वर हमको विदि हो। उसके लिये हम लोग आहुति देते हैं॥ ४ ॥

नीचे लिखे मन्त्रों से सायंकाल अग्निहोत्र करें।

ओम् अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्नि ज्योति०) "अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिः स्वरूप है उसकी आज्ञा से परोपकार के लिये हम आहुति देते हैं।" उसका रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है, जिसमें हम द्रव्य डालते हैं, सो इसलिये कि उन द्रव्यों को सूक्ष्म कर जल और वायु के साथ मिलाकर उनको शुद्ध कर दे। जिससे सब संसार सुखी होकर पुरुषार्थी हो॥ १ ॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(अग्निर्वर्चो०) अग्नि जो परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देने वाला तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है। इसलिये परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये हम लोग आहुति देते हैं॥ २॥

ओम् अग्नि ज्योति ज्योतिरग्नि स्वाहा॥ ३॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण कर तीसरी आहुति दें।

ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा॥ ४॥

अर्थ—(सजूर्देवेन) जो परमेश्वर प्राणादि वायु में व्यापक, वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला और सबके अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त है, वह अग्नि रूप परमेश्वर हमको प्राप्त हो। उसका अनुग्रह प्राप्त्यर्थ हम आहुति देते हैं॥ ४॥

निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं दोनों समय आहुति देनी चाहिये।

ओम् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ १॥ इदमग्नये प्राणाय-इदन्नमम॥

अर्थ—(भूरग्नये०) सर्वाधार, प्रकाशस्वरूप सब के प्राण परमात्मा के लिये सुहुत है॥ १॥ यह प्राणस्वरूप अग्नि के लिये है—मेरे लिये नहीं।

ओम् भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ २॥ इदं वायवेऽपानाय-इदन्न मम।

अर्थ—(भुवर्वायवे०) सर्वदुःखनाशक, बलवान तथा अपने भक्तों को दुःखों से पृथक् रख सर्वदा सुख देने वाले परमात्मा के लिये सुहुत है॥ २॥ यह वायु अपान के लिये है—मेरे लिये नहीं।

ओम् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(स्वरादियाय०) सुख स्वरूप, अविनाशी सर्वव्यापक परमात्मा के लिये सुहुत है॥ ३॥ यह आदित्यरूप व्यान के लिये है—मेरे लिए नहीं।

ओम् भू भुर्वः स्वरग्निवाय्यवादित्येभ्यः प्राणापान व्यानेभ्यः स्वाहा॥ ४॥ इदमग्नि वाययवादित्येभ्य, प्राणापान व्यानेभ्य-इदन्न मम॥

अर्थ—(भू र्भुवः स्वरग्नि०) सर्वाधार, सर्वदुःखनाशक, अविनाशी, सबके जीवन के आधार, दुःखों को दूर करने वाले, परमात्मा के लिये सुहुत है॥ ४॥ यह अग्नि वायु आदित्य तथा प्राणापान एवं व्यान के लिये है—मेरे लिये नहीं।

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भू र्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५॥

अर्थ—(आपो—) जो प्राण स्वरूप परमेश्वर के प्रकाश को प्राप्त होकर, रस अर्थात् जो नित्यानन्द मोक्ष स्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर सर्वाधार, दुःखरहित, सुख स्वरूप ब्रह्म में आनन्द से विचरें, इसके लिये यह सुहुत है॥ ५॥

ओम् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविन कुरु स्वाहा॥ ६॥

(यजु० अ० ३२। मं० १४)॥

अर्थ—(यां मेधां०) जिस पवित्र बुद्धि के द्वारा विद्वान् लोग तथा पूर्वज पितृगण आपकी उपासना करते थे, हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! उस पवित्र बुद्धि से मुझे शीघ्र मेधावी कीजिये, इसके लिये सुहुत है॥ ६॥

**ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा॥ ७॥** *(यजु० अ० ३०। मं० ३)॥*

**ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्य्स्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां तेनमं उक्तिं विधेम स्वाहा॥ ८॥**

(यजु० अ० ४०। मं० १६)॥

इन आठ मन्त्रों से आठ आहुति देकर—

ओम् सर्वं वै पूर्णं स्वाहा॥ ९॥

इस मन्त्र को एक-एक बार पढ़ के एक-एक करके क्रमशः तीन बार पूर्णाहुति देवे॥ ९॥

पूर्वोक्त मन्त्रों से हवन करके यदि अधिक हवन करने की इच्छा हो तो मन्त्र के आरम्भ में "ओम्" तथा अन्त में स्वाहा लगाकर सावित्री मन्त्र से हवन करे।

जो सुगन्धित, पुष्टिकारक, मिष्ट तथा रोगनाशक, चार प्रकार के पदार्थ हैं, उनका हवन करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि होकर, पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ईश्वर दुष्ट मनुष्यों पर "दुष्टानामुपरि क्रोध कृत" क्रोध भी करता है। यज्ञ के लिये आवश्यकतानुसार यथोचित परिमित परिमाण का सोना, चाँदी, ताँबा, या लोहा अथवा मृतिका का हवन कुण्ड बनवा लेना चाहिए।

अथ पितृ यज्ञः।

दैनिक अग्नि होत्र करके तीसरा पितृयज्ञ करे अर्थात् जीवित माता पितादि की यथा शक्ति यथावत् सेवा करना पितृयज्ञ है। पितृ यज्ञ के दो भेद हैं, एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। देव अर्थात् विद्वानों, ऋषियों तथा माता पितादि पितरों को सुख देना तर्पण है तथा अन्न जल, वस्त्र तथा मधुर भाषणादि से इनकी सेवा करना श्राद्ध है।

पितृ संज्ञा

१. **सोमसदः**—जो ईश्वर अर्थात् अध्यात्म विद्या और सोमयज्ञ में निपुण तथा शान्त्यादि गुण युक्त हैं वे सोमसद हैं।

२. **अग्निष्वात्ताः**—जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि के गुण ज्ञात करके जिनने भली भांति अग्नि विद्या वा विद्युत्विद्या सिद्ध की हो उनको अग्निष्वात्त कहते हैं।

३. **बर्हिषद्**—जो योगाभ्यास की रीति से, सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम-दम-सत्य तथा विद्यादि गुणों में वर्त्तमान हैं, उनको बर्हिषद् कहते हैं।

४. **सोमपा**—जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस को पान करने कराने वाले हैं, तथा जो विद्या को जानते हैं, उनको सोमपा कहते हैं।

५. **हविर्भुज**—जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा जब जगत् का उपकार उपकार करते और जो अन्न जलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, वे हविर्भुज हैं।

६. **आज्यपा**—घृत दुग्धादि स्निग्ध पदार्थ और विज्ञान को जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं उनको आज्यपा कहते हैं।

७. **सुकालिन**—मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्य विद्या के उपदेश में जिनका समय व्यस्त रहता है और जो सदा सत्य विद्या के उपदेश में ही वर्त्तमान हैं, उनको "सुकालिन" कहते हैं।

८. **यमराज**—जो पक्षपात को छोड़ के सदा सत्य और न्याय व्यवस्था ही करने में रहते हैं उनको "यमराज" कहते हैं।

९. **पितृ पितामह, प्रपितामह**—जन्म के कारण पिता की "वसु" संज्ञा, पितामह की "रुद्र" संज्ञा तथा प्रपितामह की "आदित्य" संज्ञा है। माता, मातामही तथा प्रमातामही इनकी ही भलि-भांति सेवा करने योग्य है। जीवित रहने के कारण इन तीन पीढ़ियों के जीवित प्राणियों का श्राद्ध होता है।

१०. **मातृ, पितामही, प्रपितामही**—माता, मातामही, तथा प्रमातामही भी पितादि की भांति सेवनीय पितृ हैं।

११. **सगोत्राः**—जो समीपी सगोत्रज् सेवा करने योग्य हैं, वे भी सेवा करने योग्य हैं।

१२. **आचार्यादि, सम्बन्धिनः**—जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले आचार्यादि एवम् श्वसुरादि तथा उनकी स्त्री भी सेवा करने योग्य हैं।

जो सत्य, विद्यादान से मनुष्यों का पालन व रक्षा करते हैं, वे पितर हैं।

इति पितृ यज्ञः ॥

अथ बलि वैश्व देव विधि र्लिख्यते।

जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बना हो, उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़कर, पाकशाला में बने घृत मिष्ठ युक्त अन्न की पाकाग्नि में से पृथक् अग्नि ले, यज्ञ कुण्ड में रख अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसमें दश आहुति दे।

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के लिये सुहुत है॥ १॥

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—सर्वानन्द प्रद सर्व जगतोत्पादक परमेश्वर के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—प्राणापान स्वरूप परमेश्वर के लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यो स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—विश्व प्रकाशक ईश्वर तथा विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

ओम् धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—सर्व रोगनाशक ईश्वर के लिये सुहुत है ॥ ५ ॥

ओम् कुह्वै स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ—दर्शेष्टि तथा परमात्मा की चिति शक्ति के लिये सुहुत है ॥ ६ ॥

ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ—पौर्णमास्येष्टि तथा परमेश्वर की ज्ञानस्वरूप चिति शक्ति के लिये सुहुत है ॥ ७ ॥

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ—सब जगत् के स्वामी प्रजापति रूप परमात्मा के लिये सुहुत है ॥ ८ ॥

ओम् सह द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ ९ ॥

अर्थ—ईश्वर द्वारा उत्पादित अग्नि तथा पृथिवी की पुष्टि करने के लिये सुहुत हैं ॥ ९ ॥

ओम् स्विष्ट कृते स्वाहा ॥ १० ॥

अर्थ—जो अभीष्ट सुख का देने वाला परमेश्वर है वही स्विष्टकृत् है, उसके लिये सुहुत है ॥ १० ॥

इसके पश्चात् पत्तल वा थाली में क्षार खट्टा तथा लवण रहित पाकशाला में बने घृत मिष्ठ पदार्थ भिन्न दिशाओं में रक्खे।

ओम् सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ *इससे पूर्व में,*

अर्थ—(सानुगायेन्द्राय०) सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर तथा उसके गुणों को नमस्कार है ॥ १ ॥

ओम् सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥ *इससे दक्षिण में,*

अर्थ—(सानुगाय यमाय०) सबसे उत्तम परमात्मा तथा निरन्तर न्याय में विश्वास रखने तथा न्याय करने वालों को नमस्कार है ॥ २ ॥

ओम् सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ *इससे पश्चिम में,*

अर्थ—(सानुगाय वरुणाय०) सबसे उत्तम परमात्मा तथा उसके आज्ञापालक भक्तों को नमस्कार है ॥ ३ ॥

ओम् सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥ *इससे उत्तर में,*

अर्थ—(सानुगाय सोमाय०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करने वाले परमात्मा तथा पुण्यात्माओं को नमस्कार है ॥ ४ ॥

ओम् मरूद्भ्यों नमः ॥ ५ ॥ *इससे द्वार,*

अर्थ—(मरुद्भ्यो) प्राण, जिसके रहने से जीवन तथा निकलने से मरण होता है, उसकी भांति रक्षा करनी चाहिये ॥ ५ ॥

ओम् अद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ *इससे जल,*

अर्थ—(अद्भयो०) जल को शुद्ध रखना चाहिये ॥ ६ ॥

ओम् वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ *इससे मूसल औ ऊखल,*

अर्थ—(वनस्पतिभ्यो०) वनस्पतियों की भली भांति रक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

ओम् श्रियै नमः ॥ ८ ॥ *इससे ईशान,*

अर्थ—(श्रियै०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है, उसकी कृपा से राज्य श्री प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिये ॥ ८ ॥

ओम् भद्र काल्यै नमः ॥ ९ ॥ *इससे नैऋत्य,*

अर्थ—(भद्र०) परमात्मा की कल्याण करने वाली शक्ति अर्थात् सामर्थ्य का आश्रय लेना चाहिये ॥ ९ ॥

ओम् ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥

अर्थ—(ब्रह्म०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है, उसकी प्रार्थना और विद्या प्रचार के लिये उद्योग अवश्य करना चाहिये ॥ १० ॥

ओम् वास्तुपतये नमः॥ ११॥ इससे मध्य में,

अर्थ—(वास्तुपतये०) जो वास्तुपति गृह सम्बन्धी पदार्थों का पालन करने हारा मनुष्य अथवा ईश्वर है इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये॥ ११॥

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः॥ १२॥ इनसे ऊपर,

अर्थ—(विश्वेभ्यो०) संसार को प्रकाश करने वाले गुण तथा विद्वान् लोगों का आदर करना चाहिये॥ १२॥

ओम् दिवा चारिभ्योभूतेभ्यो नमः॥ १३॥ *इससे ऊपर,*

अर्थ—(दिवा०) दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना व उनको सुख पहुंचाना चाहिये॥ १३॥

ओम् नक्तं चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥ १४॥ *इससे ऊपर,*

अर्थ—(नक्तं०) जो रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं उनसे भी उपकार लेना तथा उनको सुख पहुँचाना चाहिये॥ १४॥

ओम् सर्वात्म भूतये नमः॥ १५॥ *इससे पृष्ठ,*

अर्थ—(सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिये॥ १५॥

ओम् पितृभ्य स्वधायिभ्यः नमः॥ १६॥ *इससे दक्षिण,*

अर्थ—(पितृभ्य०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र तथा भृत्यादिकों को भोजन कराकर भोजन करना चाहिये॥ १६॥

यदि भाग रखने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसको दे देना, नहीं तो अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसमें रख देना। तत्पश्चात् घृत सहित लवणान्न लेकर—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां चशनकै र्निवपेद् भुवि॥

(मनु० अ० ३। श्लो० ९२)॥

अर्थ—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पाप, रोगी, काक और कृमी इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे और वे छः भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिये॥

इति बलि वैश्व देव विधिः ॥

अतिथि यज्ञः ।

जो वैदिक विद्वान्, वैदिक धर्मी, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, छल कपट रहित वेद तथा धर्म प्रचारार्थ, नित्य भ्रमणशील सुशील तथा विनम्र व्यक्ति की अतिथि संज्ञा है ।

अथर्वा ऋषिः । व्रात्यो देवताः । दैवी पंक्तिश्च्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

तद्यस्यैव विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छैत् ॥ १ ॥

(अथर्व० कां० १५ । सू० ११ । मं० १) ॥

अर्थ—(तद्यस्यैवं विद्वान्०) जिसके घर में पूर्वोक्त गुण युक्त विद्वान् (व्रात्यो०) उत्तम गुण, विशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि अर्थात् जिसके आने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो, जो अकस्मात् आवे और जाये, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के स्थान में प्राप्त हो ॥ १ ॥

अथर्वा ऋषिः । व्रात्यो देवताः । त्रिष्टुप् अति शक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

(अथर्व० कां० १५ । सू० ११ । मं० २) ॥

अर्थ—तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठा के पश्चात् पूछे कि आपको जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये । इस प्रकार अतिथि को प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थ चित्त होकर पूछे कि—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य, उत्तम पुरुष ! आपने यहाँ आने के पूर्व कहाँ वास किया था । (व्रात्योदकं०) हे अतिथि ! यह जल लीजिये (व्रात्यतर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं, और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश से विज्ञानयुक्त होके सदा प्रसन्न हों (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य ! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो, वैसा ही हम लोग काम करें, और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसके लिये आज्ञा कीजिये ।

(व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्सङ्ग पूर्वक विद्या वृद्धि से सदा आनन्द में रहें॥ २॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे को वैसे अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे, यदि ऐसा न हो तो कभी न समझें॥ १॥ (मनु० ३। १०७)॥

किन्तु जो पाखण्डी, वेद निन्दक, नास्तिक ईश्वर और वेद को न मानें, अधर्माचरण करने हारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुलें के समान अतिथि वेषधारी बन के आवें, उनका वचन मात्र से भी सत्कार कोई भी कभी न करे॥ २॥ (मनु० अ० ४। श्लो० ३०)।

इति अतिथि यज्ञः॥

पक्षयाग

पौर्णमासी और अमावस्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र करके, पूर्व से बनाये हुए स्थालीपाक की विशेष आहुति निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

पौर्णमासी वाले दिन—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ १॥

अर्थ—(अग्नये०) प्रकाश स्वरूप परमात्मा के लिये सुहुत है॥ १॥

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ २॥

अर्थ—(अग्नीषोमाभ्यां०) प्रकाश स्वरूप तथा आनन्ददायक परमात्मा के लिये सुहुत है॥ २॥

ओम् विष्णवे स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(विष्णवे स्वाहा) सर्व व्यापक परमात्मा के लिये सुहुत है॥ ३॥

अमावस्या वाले दिन—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ १॥

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(इन्द्राग्नीभ्यां०) सर्वैश्वर्यमय प्रकाश स्वरूप परमात्मा के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् विष्णवे स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—सर्व व्यापक परमात्मा के लिये सुहुत है।

इन मन्त्रों से स्थालीपाक की आहुति करके घृत की चार व्याहृति आहुति, स्थालीपाक की एक स्विष्टकृत् आहुति, तथा घृत की एक मौन रहकर प्राजापत्याहुति कर "सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा" मन्त्र तीन बार पढ़ कर तीन बार पूर्णाहुति करें। तत्पश्चात् वामदेव्य गान करें।

अभाग्य से जिसके घर में नैत्यिक अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्ष यागादि में यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे पक्ष याग वाले दिन यज्ञवेदी बना यज्ञ सामग्री समिधा तथा यज्ञ पात्र रख, वेदी के चारो ओर आसन बिछा, घृत गरम कर छान सुगन्धि मिला, स्थालीपाक बना उसमें घृत मिला प्रातःकाल यज्ञ वेदी के पश्चिम में बैठ, स्थिर चित्त से अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठकर, सङ्कल्पोचारण पूर्वक आचमन तथा अङ्ग स्पर्श कर, अग्न्याधान से लेकर आघारावाज्यभागाहुति पर्यन्त सब विधि सम्पन्न कर पक्षेष्टि याग करे। तत्पश्चात् वाम देव्य गान करे।

इति पक्षेष्टिः।

नवशस्येष्टि तथा संवत्सरेष्टि।

जब-जब नवान्न आवे, तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें, अर्थात् जब-जब नवान्न आवे तब-तब नवशस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करें।

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो जिस दिन प्रसन्नता हो, वही शुभ दिन जाने। ग्राम अथवा नगर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप पूर्व दिन बना कर अगले दिन प्रातःकाल यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे यज्ञवेदी के चारो ओर सुन्दर आसन बिछा, यज्ञपात्र, सामग्री, समिधा रख घृत गरम कर छान सुगन्धि मिला, स्थालीपाक बनाकर उसमें घृत मिला यज्ञ वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुखबैठ, स्थिर चित्त से अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना

स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठकर, नैत्यिक सङ्कल्पोचारण कर आचमन तथा अङ्ग स्पर्श करे। तत्पश्चात् वेदी में समिधाचयन अग्न्याधान, अग्नि प्रज्ज्वलन, समिदाधान, पञ्च घृताहुति, जल प्रोक्षण, घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति, घृत की चार व्याहृति आहुति तथा अष्ट आज्याहुति करके—

ओम् पृथिवी द्यौ प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्र मुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(पृथिवी द्यौ०) पृथिवी तथा द्यौ, दिशाऐं, अवान्तर दिशाऐं जिसके प्रकाश से आच्छादित हैं, उस ऐश्वर्यशाली इन्द्र अर्थात् परमात्मा का मैं यहाँ आह्वान करता हूँ, उसकी कृपा हमारे लिये कल्याणकारी हो, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्।
तन्मे सर्वँ् समृध्यतां जीवतः शरदः शतं स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(यन्मे) हे वृत्रहन् अर्थात् पापियों के मारने वाले परमात्मन् ! जो कुछ इस कर्म के लिये अभीष्ट है वह मेरे सौ वर्ष तक के जीवनकाल के लिये पूरा होता रहे, इसके लिये सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टि ज्यैष्ठ्य ँ् श्रैष्ठ्यँ् श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय-इदन्नमम ॥ ३ ॥

अर्थ—(सम्पत्ति०) सम्पदा, ऐश्वर्य, भूमि, वृष्टि, बड़प्पन, श्रेष्ठता और शोभा यहाँ मेरी प्रजा की रक्षा करें, इसके लिये सुहुत है ॥ यह इन्द्र के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ३ ॥

ओम् यस्याभावे वैदिक लौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्र पत्नी मुपह्वये सीता ँ् सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्र पत्न्यै" इदन्नमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(यस्याभावे०) जिसकी विद्यमानता में लौकिक और वैदिक कर्मों की वृद्धि होती है, ऐश्वर्य के स्वामी की दिव्य प्राण शक्ति का मैं आह्वान करता हूँ, वह प्रत्येक कर्म में मुझे न त्यागने वाली हो। इसके लिये सुहुत है ॥ यह इन्द्र पत्नी के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ४ ॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती विभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवा ँ् सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा॥ इदं सीतायै-इदन्नमम॥ ५॥

अर्थ—(अश्वावती०) अश्वों वाली, गौओं वाली, सत्य और मधुर वाणी से युक्त जो सावधान हुई सारे प्राणियों का पोषण करती है, खलिहानों की मालावाली उस दृढ़ उर्वरा भूमि का आह्वान करता हूँ, वह मेरे न त्यागने वाली हो, इसके लिये सुहुत है॥ यह सीता के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ५॥ (पार० गृ० सू० कां० २। कं० १७। ९)॥

इन पांच मन्त्रों से प्रधान होम की पांच घृताहुति करके—

ओम् सीतायै स्वाहा॥ १॥

अर्थ—(सीतायै०) प्राण शक्ति, हल की कर्षित रेखा के लिये सुहुत है॥ १॥

ओम् प्रजायै स्वाहा॥ २॥

अर्थ—(प्रजायै०) प्रजा के सुख के लिये सुहुत है॥ २॥

ओम् शमायै स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(शमायै०) शान्ति एवम् सुख के लिये सुहुत है॥ ३॥

ओम् भूत्यै स्वाहा॥ ४॥

अर्थ—ऐश्वर्य प्राप्त्यै सुहुत है॥४॥

(पार० गृ० सू० कां० २। कं० १७। १७)॥

इन चार मन्त्रों से स्थालीपाक की चार आहुति देकर स्थालीपाक की एक स्विष्टकृत् आहुति तथा घृत की एक मौन रहकर प्राजापत्याहुति दे, तत्पश्चात् घृत की चार व्याहृति आहुति तथा घृत की आठ अष्टाज्याहुति देवे तत्पश्चात् पूर्णाहुति कर वामदेव्य गान, अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठ कर ईश्वर के धन्यवाद पूर्वक यज्ञ की समाप्ति करे।

इति नवशस्येष्टि एवम् सम्वत्सरेष्टि विधिः ॥

अथशाला कर्म विधिः।

"शाला" उसको कहते हैं, जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अथवा गृह वा स्थान विशेष बनाते हैं। इसके दो विषय हैं, एक प्रमाण और दूसरा विधि।

प्रमाण—

भृग्वङ्गिराः ऋषिः। शाला देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥ १॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० १)॥

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावे, तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त, कि जिसको देख के विद्वान् लोग सराहना करें, (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार, कोणों और कक्षा भी सन्मुख हो (अथो) इसके अनन्तर (परिमिताम) वह शाला चारो ओर के परिमाण से सम चौरस हो, (उत) और (शालयाः) शला (विश्व वारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार, चारों ओर के वायु को स्वीकार करने वाले हों, (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हो। हे मनुष्यो ! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विवृतामसि) भली भांति ग्रन्थित अर्थात् बन्धन युक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो॥ १॥

भृग्वङ्गिराः ऋषिः। शाला देवता। परोष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥ २॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० ७)॥

अर्थ—उस घर में एक (हविधनिम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान, और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा स्नान, भोजन तथा ध्यान आदि का भी पृथक्

पृथक् एक-एक घर बनावे, इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनायी हुयी शाला (असि) सुखदायक हो ॥ २ ॥

भृग्वङ्गिराः ऋषिः । शाला देवता । पञ्च पदातिशक्वरी छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अन्तरां द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालांप्रति गृह्णामित इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसोविमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां
प्रतिगृह्णामि तस्मै ॥ ३ ॥ *(अथर्व० कां० ९ । सू० ३ । मं० १५)* ॥

अर्थ—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारो ओर स्थान शुद्ध हो (च) और (द्याम्) जिसमें सूर्य का प्रकाश आवे, वैसी प्रकाश स्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे, (च) और (यत्) जो (व्यचः) उसकी व्याप्ति अर्थात् विस्तार है, (तेन) उसी के युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को हे स्त्री ! (ते) तेरे लिये बनाता हूँ तू इसमें निवास कर, और मैं भी अपने निवास के लिये इसको (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ (यत्) जो इसके मध्य में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान परिमाण युक्त ऊँची लम्बी छत और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तार युक्त होवे, (तत्) उसको (शेवधिभ्यः) सुख के आधार रूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूँ, (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षण मात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिगे (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । शाला देवताः । अनुष्टप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ऊर्जस्वती पयस्वतीपृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं विभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥ ४ ॥

(अथर्व० कां० ९ । सू० ३ । मं० १६) ॥

अर्थ—जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बंहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ाने वाली और धन धान्य से पूरित सम्बन्ध वाली (पयस्वती) अन्न, घृत, दुग्ध रसादि से परिपूर्ण (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाण युक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (विभ्रती) धारण करती हुयी,

(प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करने हारों को रोगादि से (मा-हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिए॥ ४॥

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। शाला देवताः। प्रस्तार पंक्तिः छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥ ५॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० १७)॥

अर्थ—(अमृतौ) स्वरूप से नाश रहित (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम) प्रमाण युक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनायी हुई (शालाम्) शाला को और (ब्रह्मणा) चारों वेदों को जानने हारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देने हारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहने वालों की (रक्षताम्) रक्षा करें। अर्थात् चारो ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि तथा गौ के घृत से होम किया जाए, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल शुद्ध वायु एवम् सुगन्ध का स्थापन करे। वह (सोभ्यम्) ऐश्वर्य तथा आरोग्य से युक्त सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है। उसी को निवास के लिये ग्रहण करे॥ ५॥

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। शाला देवताः। आस्तार पंक्तिः छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षा दशपक्षा शालां मानस्य पत्नीमग्निगर्भ इवा शये। ६॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० २१)॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण में एक-एक शाला और मध्य में पांचवीं बड़ी शाला वा (षट्पक्षा) एक-एक मध्य में बड़ी शाला उत्तर तथा दक्षिण में हों (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनायी जाती है, वह उत्तम होती है, और इससे भी जो (अष्टपक्षाम्)

(निमीयते) बनायी जाती है, वह उत्तम होती है, और इससे भी जो (अष्टपक्षाम्) चारो ओर दो-दो शाला और उनके मध्य में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिसके मध्य में दो शाला और उनके चारो दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भ रूप होकर (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सीधे तथा बराबर हों, और जिसकी चारो ओर की शालाओं का परिमाण तीन-तीन गज और मध्य की शालाओं का छः-छः गज से परिमाण न्यून न हो, और चार-चार गज चारों दिशाओं की ओर, आठ-आठ गज मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश-दश गज से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिये। यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारो ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भ बनाकर चारो ओर खुला बनाना चाहिये कि जिसके कपाट खोलने से चारो ओर का वायु उसमें आवे और सब घरों चारो ओर वायु आने के लिये अवकाश तथा वृक्ष फूल और पुष्करिणी कुण्ड भी होने चाहियें वैसे घरों में सब लोग रहें ॥ ६ ॥

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । शाला देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्य हिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥ ७ ॥

(अथर्व० कां० ९ । सू० ३ । मं० २२) ॥

अर्थ—जो (शाले) शाला गृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वार युक्त (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सन्मुख पूर्व द्वार जिसमें (हि) निश्चय कर (अन्तः) मध्य में अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूँ ॥ ७ ॥

भृग्वङ्गिराः ऋषिः। शाला देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि॥ ८॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ३। मं० २४)॥

अर्थ—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे वैसी बनाओ (त्वा) उस शाला को (यत्र कामम्) जहाँ जैसी कामना हो, वहाँ वैसी, हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं, वैसे तुम भी ग्रहण करो॥ ८॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके तब प्रवेश करते समय निम्नलिखित विधि करे—

अथविधिः—जब घर बन बन चुके तब उसकी भली भांति शुद्धि करा, चारों दिशाओं के बाहर के द्वारों में चार वेदी, और घर के मध्य में एक वेदी बनावे, अथवा वेदी के समान तांबे का एक कुण्ड बनवा लेवे कि सब स्थान पर एक ही कुण्ड में काम हो जावे। यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे सब प्रकार सामग्री, समिधा, चन्दन की समिधा, गौ का घृत, चावल, मधु, मिष्ठ, सुगन्ध केशर, कस्तूरी, कपूर, मेवा बादाम, किशमिश, फल प्रथम दिन ही लाकर शोधन कर रख लेवे।

जिस दिन में गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे उसी शुभ दिन में गृह प्रतिष्ठा करे।

गृह प्रवेश वाले दिन प्रथम स्थालीपाक मोहन भोग आदि बना पुष्कल घृत मिला ढक कर रख दे। वेदी के चारो ओर सुन्दर आसन बिछा, ब्रह्मा होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा पुरोहित आदि ऋत्विजों का सादर वरण कर ब्रह्मा को वेदी के दक्षिण में उत्तराभिमुख, होता को पश्चिम में पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु को उत्तर में दक्षिणाभिमुख, उद्गाता को पूर्व में पश्चिमाभिमुख तथा पुरोहित ब्रह्मा के वाम पार्श्व में उत्तराभिमुख आसन पर बैठें। यजमान अर्थात् गृहपति

सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठे। ऐसी ही व्यवस्था घर के द्वारों की सभी वेदियों पर कर रक्खे।

तत्पश्चात् निष्क्रम्यद्वार अर्थात् जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होंवे अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहितउहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा॥ *(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ३)॥*

अर्थ—(अच्युताय) भूमि के अधिष्ठाता सर्वत्र स्थिर परमात्मा के लिये सुहुत है।

द्वारस्थ वेदी में इस मन्त्र से घृत की एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ, जिसमें ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे जिससे वह दृढ़ रहे।

पुनः द्वार के सामने जाकर निम्नलिखित चार मन्त्रों से जल सेचन करे।

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारा प्रतरणी वसूनाम्।
इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृत मुक्षमाणा॥ १॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ४)॥

अर्थ—(इमाम् उच्छ्रयामि भुवनस्य नाभि) यह मैं भुवन की नाभि को उठाता हूँ (वसोः धारा प्रतरणी वसूनाम्) यह उत्तम धारा धन धान्य पशु तथा हिरण्यादि धनों को बढ़ाने वाली हो, (इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां) यहाँ मैं एक दृढ़ शाला स्थापित करता हूँ (क्षेमे तिष्ठतु घृत मुक्षमाणा) हमारे लिये घृतवत् ऐश्वर्य प्रदान करती हुई कुशल क्षेम पूर्वक स्थित हो॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिड़कावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्वमहते सौभगाय।
आ त्वा शिशुसक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥ २॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ४)॥

अर्थ—(अश्वावती०) अश्वों वाली, गौओं वाली, तथा सत्य और मधुर वाणी से निनादित हे शाले ! तू खड़ी हो, तुझे बालक पुकारे, गौएं (अप्रसूता) और प्रसूता गायें रम्भाती हुई तुझे प्यार करें ॥ २ ॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार पर जल छिड़कावे।

आ त्वा कुमारस्तरूण आ वत्सो जगदैः सह।
आ त्वा परिस्नुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरूप। क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नोधेहिसुभगे सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ४) ॥

अर्थ—(आ त्वा कुमारः) युवा कुमार तुझे पुकारे, वत्स अपने सखाओं के साथ तुझे पुकारे, बहते हुए दूध का घड़ा तथा दही के घड़ों के साथ तुझे पुकारे, तू योग क्षेम की पत्नी विशालस्वरूप सुशोभन वस्त्रों वाली जैसी हो, हे सौभाग्यवती शाला ! तू हमें बड़े सामर्थ्य वाला धन दे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार पर जल छिड़कावे।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरि व।
अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥ ४ ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ४) ॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सन्मुख जल छिड़कावे।

अर्थ—(अश्वावत्) अश्वादि वाहनों से युक्त, गवादि से युक्त सब प्रकार से सुदृढ़ सामर्थ्य युक्त यह घर सब को आश्रय देता व सब के कल्याण के अनुकूल हुआ हमें सब प्रकार से धन देने वाला हो, जैसे वृक्ष के पत्तों में सब ओर से धन आता है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिड़कावे।

तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली स्तम्भ वा केले के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन् ! प्रविशामि इति ॥

यजमान ऐसा वाक्य ब्रह्मा से बोले।

अर्थ—आपकी आज्ञा हो तो मैं घर में प्रवेश करता हूँ।

वरं भवान् प्रविशतु ॥ *(पार० गृ० सू० ३।४।५)॥*

अर्थ—अत्युत्तम, आप प्रसन्नता से प्रवेश करें।

ब्रह्मा, यजमान को ऐसा प्रत्युत्तर देवे।

ओम् ऋतं प्रपद्ये, शिवं प्रपद्ये ॥ *(पार० गृ० सू० ३।४।६)॥*

अर्थ—मैं सत्य रूप घर को प्राप्त होता हूँ, कल्याण रूप घर को प्राप्त होता हूँ॥

इस वाक्य को बोलकर भीतर प्रवेश करे। जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे वहीं यज्ञवेदी पर ऋत्विजों सहित अपने अपने आसनों पर स्थित होकर एक व्यक्ति अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना का पाठ कर सब स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण का पाठ करें। ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठ पुनः-पुनः करना आवश्यक नहीं है।

तत्पश्चात् नैत्यिक सङ्कल्पोच्चारण कर आचमन अङ्ग स्पर्श कर अग्न्याधान तथा अग्नि प्रज्ज्वलन कर, घृत गरम कर, छान, सुगन्धि मिला समिदाधान, पञ्च घृताहुति, जल प्रोक्षण कर तथा घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति कर, घृत की चार व्याहृति आहुति, स्थालीपाक की एक स्विष्टकृत् आहुति तथा घृत की प्राजापत्याहुति अर्थात् सब दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में आचमन से लेकर अग्न्याधान से प्राजपत्याहुति पर्यन्त समस्त विधि करके पश्चात् पूर्व दिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओम् प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया) इस शाला की पूर्व दिशा की महिमा के लिये हमारा नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है॥ १॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः) पूर्व दिशास्थ माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है॥ २॥

इन दो मन्त्रों से पूर्व द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओम् दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया दक्षिणाया०) इस शाला की दक्षिण दिशा की महिमा के लिये हमारा नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है॥ १॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः०) दक्षिण दिगस्थ सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिण द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो घृताहुति करके। इसी भांति—

ओम् प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया प्रतीच्या०) इस शाला की पश्चिम दिशा की महिमा के लिये हमारा नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः०) पश्चिम दिशास्थ सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से पश्चिम द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति करके। इसी भांति—

ओम् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया उदीच्या दिशः०) इस शाला की उत्तर दिशा की महिमा के लिये हमारा नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः०) उत्तर दिशास्थ सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से उत्तर दिशास्थ वेदी में दो घृताहुति करके। पुनः मध्य शालास्थ वेदी के समीप जाकर यजमान तथा ऋत्विज अपने-अपने आसन पर अपनी-अपनी दिशा में वेदीकेसन्मुख मुख करके बैठकर—

ओम् ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया ध्रुवाया दिशः०) इस शाला की नीचे की दिशा अर्थात् भूमिस्थ स्थिरता की महिमा के लिये नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः०) भूमिस्थ सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से मध्यस्थ वेदी में दो घृताहुति देकर—

ओम् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया ऊर्ध्वाया दिशः०) इस शाला की ऊपर की दिशा अर्थात् आकाश की महिमा के लिये नमस्कार है, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—*(देवेभ्यः०) ऊर्ध्व दिशास्थ सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥*

इन दो मन्त्रों से भी मध्य शालास्थ वेदी में दो घृताहुति देकर—

ओम् दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(शालाया दिशो दिशः०) इस शाला की समस्त दिशाओं की महिमा के लिये नमस्कार हो, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः०) समस्त दिशाओं के सम्माननीय विद्वानों के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों से भी शाला के मध्य स्थित वेदी में दो घृताहुति देकर, पुनः पूर्व दिशा के द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रदीप्त करके, वेदी के दक्षिण में ब्रह्मा, पश्चिम में होता तथा यजमान, उत्तर में अध्वर्यु तथा पूर्व में उद्गाता के लिये आसन बिछा कर, वेदी के उत्तर भाग में जल पूरित कलश स्थापन कर, स्थालीपाक बना के पृथक् रख निष्क्रभ्य द्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि ऋत्विजों को अपने-अपने आसन पर बैठाकर स्वयं वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ कर सुसंस्कृत घृत अर्थात् जो गरम कर छान जिसमें केशर, कस्तूरी तथा कपूर आदि सुगन्ध मिलाया हो, कांस्य पात्र में लेकर सबके सामने एक-एक पात्र भर कर रक्खे। और स्रुवा में लेकर—

वशिष्ठः ऋषिः । वास्तोष्पतिः देवताः । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ १॥

(ऋ० मं० ७। सू० ५४। मं० १)॥

अर्थ—(वास्तोः पते) हे गृहपति ! (अस्मान्) हम लोगों को (प्रति जानीहि) भली भांति जानो (नः) हमारे लिये (सु आवेशः) सुखपूर्वक प्रवेश हो ऐसा (अनमीवः) रोगादि से रहित हो, (यत्) जिस कामना से हम (त्वा) तुझे (ईमहे) प्राप्त हों (तत् नः प्रति जुषस्व) उसको हमें प्रदान कर (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्य तथा (चतुष्पदे) गौ आदि पशुओं के लिये (शं भव) कल्याणकारी हो इसके लिये सुहुत है॥ १॥

वशिष्ठः ऋषिः। वास्तोष्पतिः देवताः। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा॥ २॥

(ऋ० मं० ७। सू० ५४। मं० २)॥

अर्थ—(इन्दो वास्तोष्पते) हे आनन्ददायक गृहपति ! तू (प्रतरणः) प्रकृष्टता से दुःखों से तारने वाला (गोभिः अश्वेभिः) गौ व घोड़े आदि से (गयस्फानः) गृह तथा जीवन की वृद्धि करने वाला होकर (न एधि) हमें प्राप्त हो (ते सख्ये) तेरी मित्रता से (अजरासः स्याम) हम बुढ़ापे से रहित हों (पिता इव पुत्रान् जुषस्व) जैसे पिता पुत्रों का सेवन करता है (प्रति नः) उसी भांति हमारी रक्षा कर, इसके लिये सुहुत है॥ २॥

वशिष्ठः ऋषिः। वास्तोष्पतिः देवताः। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा॥ ३॥

(ऋ० मं० ७। सू० ५४। मं० ३)॥

अर्थ—(वास्तोष्पते) हे गृहपति ! हम (ते) तेरी (शग्मया संसदा) सुखमय संगति से तथा (रण्वया गातुमत्या) आनन्दमय व्यवहार से (सक्षीमहि) सदैव सम्बद्ध रहें (क्षेमे योगे नः वरं पाहि) तू हमारे योग क्षेम की भली भांति रक्षा कर, हे देवता स्वरूप विद्वानों ! (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) सुखपूर्ण साधनो द्वारा (सदा नः पात) सदैव हमारी रक्षा करो, इसके लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

वशिष्ठः ऋषिः । वास्तोष्पतिः देवताः । निचृद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

ओम् अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्यांविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥ ४ ॥

(ऋ० मं० ७ । सू० ५५ । मं० १) ॥

अर्थ—(वास्तोष्पते) हे गृह स्वामिन् ! घर में (विश्वारूपाणि) नाना प्रकार के साधन तथा उपसाधनों को प्रवेश कराते हुए आप (अमी वहा) रोग हरने वाले (सखा) मित्र और (सुशेवः) उत्तम सुखों के दाता बनकर (नः एधि) हमें प्राप्त हों, इसके लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

इन उपर्युक्त चार मन्त्रों से घृत की चार आहुति देकर जो स्थालीपाक अर्थात् भात आदि बनाया हो, उसको दूसरे कांस्य पात्र में लेकर, उस पर पर्याप्त घृत सिञ्चन करके सब के सन्मुख पृथक्-पृथक् कांस्य पात्र में रक्खें, तथा थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्र बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्निम् इन्द्रं०) मैं अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सरस्वती, वाजी, आदि समस्त भौतिक शक्तियों का आह्वान अर्थात् स्मरण करता हूँ, ये सब मेरे इस नव निर्मित घर को अन्न, धन तथा ऐश्वर्य से पूरित करें, इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् सर्पदेवजनान्त्सर्वान्हिमवन्तं सुदर्शनम् ।
वसूँश्च रुद्रानादित्या नीशानं जगदै सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्ये ऽहं वास्तु मे दत्तवाजिनः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(सर्पदेव जनान्०) समस्त सर्प देव समूह, सुदर्शन हिमालय, वसु तथा रुद्र, आदित्य तथा ईशान, मैं इन सबका आश्रय लेता हूँ, ये सब मेरे नव निर्मित घर में ऐश्वर्य देने वाले हों, इसके लिये सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् पूर्वाह्णम पराह्णम् चोभे मध्यन्दिना सह।
प्रदोष मर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्ये ऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(पूर्वाह्णम् अपराहणम्०) प्रातःकाल, सायंकाल दोनों मध्याह्न सहित, तृतीय प्रहर, सूर्यास्त की वेला तथा अर्धरात्रि तथा महान् प्रकाशमय उषा, मैं इन सबका आश्रय लेता हूँ, ये सब मेरे नव निर्मित गृह में ऐश्वर्य प्राप्त कराने हारे हों, इसके लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ओम् कर्त्तारञ्च विकर्त्तारं विश्व कर्माण मोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्ये ऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(कर्त्तारम्) शाला के निर्माण कर्त्ता (च विकर्त्तारम्) तथा शाला के चित्रण कर्त्ता (विश्वकर्माणम्) शाला के प्रारूप कर्त्ता (च) तथा (ओषधीं वनस्पतीन्) ओषधी तथा वृक्ष वेल आदि वनस्पतियां, (एतान् सर्वान् प्रपद्ये अहम्) मैं इन सबका आश्रय लेता हूँ, (वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा) ये सब मेरे नव निर्मित घर को ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले हो, इसके लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

ओम् धातारं च विधातांर निधीनां च पतिं सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्ये ऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—(धातारं) धाता अर्थात् धारण कर्त्ता (च विधातांर) तथा व्यवस्थापक (निधीनां च पतिं सह) तथा धनादि ऐश्वर्य के स्वामी के साथ, (एतान् सर्वान्) इन सबका (प्रपद्ये अहम्) मैं आश्रय लेता हूँ, (वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा) मेरे ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हों, इसके लिये सुहुत है ॥ ५ ॥

ओम् स्योन ँ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्म प्रजापती।
सर्वाञ्च देवताश्च स्वाहा ॥ ६ ॥ *(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ८) ॥*

अर्थ—(ब्रह्म प्रजापती) ब्रह्म तथा प्रजापति यह (स्योनं) सुखदायक तथा (शिवम् इदम्) कल्याण स्वरूप (वास्तु) नवनिर्मित घर (दत्तं) मुझे दें (सर्वाश्च देवताश्च) समस्त देवताओं के लिये यह (स्वाहा) सुहुत है ॥ ६ ॥

स्थालीपाक अर्थात् घृत युक्त भातादि की इन छः मन्त्रों से छः आहुति देकर स्थालीपाक की स्विष्टकृत् आहुति तथा घृत की एक प्राजापत्याहुति मौन रहकर देकर तत्पश्चात् पूर्णाहुति करे । इसके पश्चात् कांस्य पात्र में ही, उदुम्बर, गूलर, पलाश के पत्ते, शाड्वल तृण विशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को लेकर, उन सब वस्तुओं को मिला कर—

ओम् श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपाये ताम् ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । १०)

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ।

अर्थ—(श्रीश्च०) श्री और यश तेरी पूर्व सन्धि में रक्षा करें ।

ओम् यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । ११) ॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे ।

अर्थ—(यज्ञश्च०) यज्ञ तथा दक्षिणा तेरी दक्षिण सन्धि में रक्षा करें ।

ओम् अन्नश्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । १२) ॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार के समीप उनको बखरे और जल प्रोक्षण भी करे ।

अर्थ—(अन्नः च०) अन्न तथा ब्राह्मण तुम्हारी पश्चिम सन्धि में रक्षा करें ।

ओम् ऊर्क च त्वा सूनृताचोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । १३) ॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के समीप उनको बखरे और जल प्रोक्षण भी करे ।

अर्थ—(अर्क च०) पराक्रम तथा मधुर वाणी तेरी उत्तर सन्धि में रक्षा करें।

ओम् केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपयेतामित्यग्निर्वै केता ऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम्॥ १॥ *(पार० गृ० सू० ३।४।१४)॥*

इस मन्त्र से पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

अर्थ—(केता च०) केता तथा सुकेता मेरी पूर्व में रक्षा करें, अग्नि ही केता है, आदित्य सुकेता हैं, मैं उनका आश्रय लेता हूँ, उनको नमस्कार हो, वह मेरी पूर्व में रक्षा करें।

ओम् दक्षिणतो गोपायमान च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमान ँ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम्॥ २॥

(पार० गृ० सू० ३।४।१५)॥

अर्थ—(दक्षिणतः०) दक्षिण की ओर रक्षा करने वाले मेरी रक्षा करें, दिन रक्षा करने वाला और रात्रि रक्षा करने वाली है, उनका आश्रय लेता हूँ, उनके लिये नमस्कार हो, वह मेरी दक्षिण से रक्षा करें।

इस प्रकार परमात्मा का उपस्थान करके, पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होकर—

ओम् दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम्॥ ३॥ *(पार० गृ० सू० ३।४।१६)॥*

अर्थ—(दीदिविश्च०) पश्चिम की ओर चमकने वाला और जागने वाला मेरी पश्चिम से रक्षा करें, अन्न चमकने वाला है तथा प्राण जागने वाला है, मैं उनका आश्रय लेता हूँ, उनके लिये नमस्कार हो, वह मेरी पश्चिम में रक्षा करें।

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रह कर—

ओम् अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ ४ ॥ *(पार० गृ० सू० ३ । ४ । १७) ॥*

अर्थ—(अस्वप्नश्च०) उत्तर की ओर न सोने वाला और न ऊंघने वाला मेरी उत्तर से रक्षा करें, चन्द्रमा न सोने वाला तथा वायु न ऊंघने वाला है, मैं उनका आश्रय लेता हूँ, उनके लिये नमस्कार हो, वह मेरी उत्तर से रक्षा करें।

ओम् धर्म स्थूर्णा राज ँ श्रीस्तूपमहो रात्रे द्वार फलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिन स्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह। यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखायः साधु सम्मतः। तां त्वा शाले अरिष्ट वीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥ ५ ॥

(पार० गृ० सू० ३ । ४ । १८) ॥

अर्थ—(द्वार फलके) दोनों द्वार फलक (धर्म स्थूणा राज ँ) धर्म के बड़े स्तम्भ हैं (श्री स्तूपं) तथा लक्ष्मी का स्तूप हैं (अहो रात्रे) मानो अहोरात्र अर्थात् दिन और रात्रि हैं, (इन्द्रस्य गृहा) यह इन्द्र का घर अर्थात् ऐवश्र्यपूर्ण घर, (वसुमन्तः) धन धान्य युक्त (वरूयिनः) गार्ह्य पत्यादि अग्नि से युक्त (तान् अहम्) इन सब को मैं (प्रजया पशुभिः सह) प्रजा तथा पशुओं के साथ (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ, (यन्मे किञ्चित्) जो कुछ मेरे (असि उपहूतः) संगृहीत है (सर्वगणः) समस्त कुल तथा (सखायः) मित्रादिक सहित (साधु सम्मतः) जो श्रेष्ठ जनों द्वारा सम्मत है (तां त्वा शाले) हे शाले ! तू (अरिष्टः) दुःख शोकादि से रहित (नः गृहा) हमारा घर (सर्वतः) भली भांति (वीरा सन्तु) वीरों से युक्त हो ॥

इस प्रकार इस मन्त्र से उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, पुरोहित तथा होतादि ऋत्विजों एवम् सुपात्र वेदवित् धार्मिक ब्राह्मणों को सपत्नीक और इष्ट मित्र तथा सम्बन्धियों को सादर भोजन कराकर यथायोग्य सत्कार कर दक्षिणा देकर, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

सर्वे भवन्तोऽ त्रानन्दिताः सदा भूयासुः ॥

अर्थ—(अत्र सर्वे०) यहा सबको सर्वदा आनन्द हो।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर को जावें। इसी प्रकार आराम (बाग) आदि की भी प्रतिष्ठा करे। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिसकी सुगन्ध वृक्षादि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे।

इति शालादि संस्कार विधिः ॥

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने-अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उनको यथावत् करें।

अथ ब्राह्मण स्वरूप लक्षणम्।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रति ग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥ *(मनु० १ । ८८)॥*

अर्थ—(अध्यापन०) एक निष्कपट होकर प्रीतिपूर्वक पुरुष पुरुषों को तथा स्त्री स्त्रियों को पढ़ावे। दो पूर्ण विद्या पढ़ें। तीन- अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। चौथा- यज्ञ करावें। पांच- विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। छठा- न्याय से धनोपार्जनकरने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी। इनमें से तीन कर्म, पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म में और तीन कर्म, पढ़ाना, यज्ञ कराना तथा दान लेना जीविका है, परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः॥ *(मनु १० । १०९)*

अर्थ—जो दान लेना है, वह नीच कर्म है किन्तु पढ़ा के और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है॥ १॥

धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि, निर्वैरता, सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर, हिंसा द्वेषादि तथा मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं, इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जव मेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्॥ २॥

अर्थ—(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे, (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे तथा दूर रखके धर्म ही के बीच में सदा प्रवृत्त रक्खे, (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या तथा योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा स्तुति, क्षुधा तृषा तथा मानापमान आदि द्वन्द्व का सहन करना, (शौचम्) राग द्वेष तथा मोहादि से मन और आत्मा को, तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना, (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् निन्दा स्तुति आदि से कोई सतावे तो भी उस पर कृपालु रहकर क्रोधादि न करना, (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ, आत्म श्लाधा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना, (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़ कर, विचारपूर्वक उनके शब्दार्थ सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने की पूर्ण योग्यता प्राप्त करना, (विज्ञानम्) पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को यथावत् जान और क्रिया कुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना व कराना, (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पुनर्जन्म, कर्मफल और मुक्ति से कभी विमुख न होना। ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना। सबसे उत्तम गुण कर्म और स्वभाव को धारण करना। ये गुण कर्म और स्वभाव जिन व्यक्तियों में हों वे ही ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म और स्वभावों को मिला कर ही किया करें। मनुष्य मात्र में से इन्हीं गुण कर्म स्वभाव वालों को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रिय स्वरूप लक्षणम् ।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च ।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ *(मनु० १ । ८९) ॥*

अर्थ—दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में,

और शस्त्र विद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेन्ना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है (विषयेष्व प्रसक्तिः च) तथा विषयों में अनासक्त रहकर सदा जितेन्द्रिय रहना, लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा और दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर, विनय, सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना क्षत्रियों का धर्म है॥ १॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
ज्ञानमीश्वर भावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्॥ १॥

(गीता० १८।४३)॥

अर्थ—(शौर्यम्) शस्त्र, संग्राम, मृत्यु और शस्त्र प्रहारादि से न डरना, (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सन्मुख दीन व भीरु न होना, (धृतिः) चाहे कितनी आपत् विपत् क्लेश तथा दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय विचार आदि सब में अति चतुर, व बुद्धिमान् होना, (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबरा कर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण, अन्न वस्त्रादि देना तथा प्रजा को अभय दान देना (ईश्वर भावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करने वालों को यथा योग्य सुख दुःख रूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्त्तकर गुप्तचर आदि से अपने को सब प्रजा वा राज पुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों को मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोग रहित, बलिष्ठ, दृढ़, तेजस्वी तथा दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इनका विवाह भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से करना। जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों और रानी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करें। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही योग्यतानुसार नौकरी किया करें॥ १॥

वैश्य स्वरूप लक्षणम्।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १॥

(मनु० १ । ९०)॥

अर्थ—(अध्ययन) ब्रह्मचर्य्य पूर्वक वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुवर्ण, रजत, रत्न, अन्न, वस्त्र, पात्र तथा धन सुपात्रों को दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गौ आदि पशुओं का पालन करना, उनके दुग्धादि का विक्रय करना, (वाणिज्यम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भू गर्भ विद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के लाभालाभ समझना (कुसीदम्) ब्याज का लेना, (कृषि मेव च) कृषि विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना और बोना आदि व्यवहार को जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका के हैं। ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य वैश्या और इन्हीं का परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये॥ १॥

सवा रुपये सैकड़े से अधिक तथा चार आना सैकड़े से न्यून ब्याज न लेवे और न देवे। जब दूना धन आ जाए, उससे आगे कुछ न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे॥

अथ शूद्र स्वरूप लक्षणम्।

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषा मनसूयया॥ १॥ *(मनु० १ । ९१)॥*

अर्थ—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका परस्पर विवाह और इनका अधिकार

भी ऐसा ही होना चाहिये। इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे, और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अति विशेष है॥ १॥

ब्राह्मणादि सब वर्ण अपने-अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्त्तें—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १॥

(मनु० ४। १४)

अर्थ—(वेदोदितं०) ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को, आलस्य छोड़ कर नित्य किया करें, उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्ति पर्यन्त पदार्थ प्राप्त होते हैं॥ १॥

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ २॥ *(मनु० ४। १५)*

अर्थ—(नेहेतार्थान०) गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्य संचय न करे, न धर्म विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए, उनको गुप्त रख के, दूसरों से छल करके और चाहे कितना ही दुःख प्राप्त हो अधर्म से द्रव्य संचय कभी न करे॥ २॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अति प्रसक्तिं चैनेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत्॥ ३॥

(मनु० ४। १६)॥

अर्थ—(इन्द्रियार्थेषु०) इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे, और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे॥ ३॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृत कृत्यता॥ ४॥

(मनु० ४। १७)

अर्थ—(सर्वान्०) जो स्वाध्याय तथा धर्म विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सबको छोड़ देवे। जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ का कृत कृत्य होना है ॥ ४ ॥

बुद्धि वृद्धि कराण्यासु धन्यानि च हितानि।
नित्यं शास्त्राण्य वेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ५ ॥

(मनु० ४ । १९)

अर्थ—(बुद्धि०) हे स्त्री पुरुषों ! तुम, जो धर्म धन और बुद्धि आदि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ाने हारे हितकारी शास्त्र हैं, उनको और वेद निरूपित विद्याओं को नित्य देखा करो ॥ ५ ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधि गच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ६ ॥

(मनु० ४ । २०) ॥

अर्थ—(यथा यथा०) मनुष्य जैसे जैसे शास्त्र का विचार यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिकाधिक जानता जाता है और इसकी रुचि विज्ञान ही में होती जाती है ॥ ६ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः।
न मूर्खैर्ना वलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्याव सायिभिः ॥ ७ ॥

(मनु० ४ । ७९) ॥

अर्थ—(न संवसेच्च०) सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है, कि जो पतित दुष्ट कर्म करने वाले हों, न उनके, न चाण्डाल, न कंजर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी, न नीच स्वभाव वाले और न नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करे ॥ ७ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ८ ॥

(मनु० ४ । १३७)

अर्थ—(नात्मानम्०) गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होने के पश्चात् दरिद्र हो जायं, उससे अपने आत्मा का अवमान न करें, कि हाय हम निर्धन

हो गये, इत्यादि विलाप भी न करें किन्तु मृत्यु पर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें, और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ ८ ॥

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ *(मनु० ४ । १३८)*

अर्थ—(सत्यं०) मनुष्य सदैव सत्य बोले औरदूसरे को कल्याण कारक उपदेश करे। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सन्मुख कभी न बोलें, और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
श्रद्दधानो ऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १० ॥
(मनु० ४ । १५४)

अर्थ—सदा विद्या वृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान्य किया करें। जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मानपूर्वक उत्तम आसन पर बैठावे, और हाथ जोड़कर समीप बैठ पूछी हुई वार्त्ता का उत्तर देवे, और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर तक पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करे, और वृद्ध लोग हर बार व्यर्थ जहाँ तहाँ न जाया करें ॥ १० ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निवद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ११ ॥ *(मनु० ४ । १५५)*

अर्थ—(श्रुतिस्मृत्यु०) मनुष्य सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निषिद्ध कर्मों को त्याग और जो धर्म का मूल सदाचार अर्थात् सत्य और सत्पुरुष, आप्त धर्मात्माओं का आचरण है, उसका सेवन सदा किया करें ॥ ११ ॥

आचाराल्लभते आयुराचारा दीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनम क्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १२ ॥ *(मनु० ४ । १५६)*

अर्थ—(आचारा०) धर्माचरण से ही दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है, और धर्माचार, बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ॥ १२ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितो ऽल्पायुरे व च॥ १३॥

(मनु० ४।१५७)

अर्थ—(दुराचारी०) जो दुराचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधिग्रस्त होकर सदा अल्पायु हो जाता है॥ १३॥

सर्वलक्षण हीनोऽपि यः सदाचार वान्नरः।
श्रद्दधानो ऽन सूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ १४॥

(मनु० ४।१५८)

अर्थ—(सर्वलक्षण०) जो सब लक्षणों से हीनभी होकर सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोष रहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है॥ १४॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेव्येत यत्नतः॥ १५॥ (मनु० ४।१५९)

अर्थ—(यद्यतपर वशं०) मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस को प्रयत्नपूर्वक सदा छोड़े, और जो-जो स्वाधीन कर्म हों, उस-उस का सेवन प्रयत्नपूर्वक सदा किया करे॥ १५॥

सर्वं पर वशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्व्द्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयो॥ १६॥ (मनु० ४।१६०)

अर्थ—(सर्वं०) जितना पर वश होना है, वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है, वही संक्षेप से सुख दुःख का लक्षण जानो॥ १६॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसा रतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ १७॥

(मनु० ४।१७०)

अर्थ—(अधार्मिको०) जो अधार्मिक मनुष्य है और जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् बैर में प्रवृत्त रहता

है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ १७ ॥

ना धर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनै रा वर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १८ ॥ *(मनु० ४ । १७२)*

अर्थ—(ना धर्म०) मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ, सुख के मूलों को काट देता है, पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥ १८ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेवन्तु कृतो ऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ १९ ॥

(मनु० ४ । १७३)

अर्थ—(यदि नात्मनि०) यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥ १९ ॥

सत्य धर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेस्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदर संयतः ॥ २० ॥ *(मनु० ४ । २०)*

अर्थ—(सत्यधर्मार्य०) मनुष्यों को उचित है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा प्रवृत्त रहें। अपनी वाणी, बाहू तथा उदर को नियम और सत्यधर्म में वर्त्तमान रखकर शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ २० ॥

परित्येजर्थ कामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्म चाप्य सुखोदर्कं लोक विक्रुष्टमेवच ॥ २१ ॥ *(मनु० ४ । १७६)*

अर्थ—(परित्यजेत्) जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे, और जो धर्माभास अर्थात् उत्तर काल में दुःख दायक

कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं, उनसे भी दूर रहे ॥ २१ ॥

धर्म शनैस्संचिनु याद्वल्मीक मिव पुत्तिकाः ।
परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २२ ॥ *(मनु० ४ । २३८)*

अर्थ—(धर्म शनैः०) जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़ा भारी घर बना लेती है, वैसे मनुष्य पर जन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे-धीरे किया करे ॥ २२ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धना चरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्ष मधमानधमाँ स्त्यजेत् ॥ २३ ॥ *(मनु० ४ । २४४)*

अर्थ—(उत्तमैः०) जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच तथा नीचातिनीच पुरुषों का सम्पर्क त्याग कर, नित्य अच्छे व उत्तम पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २३ ॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिः सृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्व स्तेयकृन्नरः ॥ २४ ॥ *(मनु० ४ । २५६)*

अर्थ—(वाच्यर्था०) जिस वाणी में सब व्यवहार निहित हैं, वाणी ही जिनका निश्चित रूप में मूल है, तथा जिस वाणी ही से समस्त व्यवहार सिद्ध होते हैं, जो मनुष्य वाणी को चुराता अर्थात् मिथ्या भाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है, इसलिये मिथ्या भाषण को त्याग कर सदा सत्य भाषण ही किया करें ॥ २४ ॥

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रै विद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५ ॥ *(मनु० ४ । २८)*

अर्थ—(स्वाध्यायेन०) मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन, पाठन, सावित्री प्रणवादि का अर्थ विचार, प्राणायाम पूर्वक योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्रादि पञ्च महायज्ञ, कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, अग्निष्टोमादि, न्यायपूर्वक राज्य पालन सत्योपदेश और ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से इस शरी को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला बनावे ॥ २५ ॥

अथ सभा स्वरूप लक्षणम्।

जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों, जैसा कि राज्य विषयक, वे सब कार्य सभा से निश्चय करके किये जावें—

इसमें प्रमाण—

अथर्वा ऋषिः। अध्यात्मम् व्रात्यः देवताः। आर्ची गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

तं सभा च समितिश्च सेना च॥ १॥

(अथर्व० कां० १५। सू० ९। मं० २)

अर्थ—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को (सभा च समितिः च सेना च) सभा, परिषद् तथा सेना सब प्रकार मिलकर करें॥ १॥

भृगुः ऋषिः, अग्नि ऋषिः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

सभ्यं सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥ २॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ५५। मं० ६)

अर्थ—(सभ्य) हे सभा के योग्य सभापते, राजन्! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें॥ २॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥ ३॥

(ऋ० मं० ३। सू० ३८। मं० ६)

अर्थ—हो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा, और विद्या सभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें॥ ३॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः॥ १॥

(मनु० १२।१०८)

अर्थ—(अनाम्नातेषु०) हे गृहस्थ लोगों ! जो धर्मयुक्त व्यवहार, मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका हो तो तुम, जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शङ्का रहित कर्त्तव्य धर्म जानो॥ १॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तुवेदः सपरि बृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्ष हेतवः॥ २॥

(मनु० १२।१०९)

अर्थ—(धर्मेणा०) शिष्ट सब मनुष्य मात्र नहीं होते, किन्तु जिनने पूर्ण ब्रह्मचर्य और मर्यादा पूर्वक धर्म का पालन करते हुए साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन किया हो, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ, धर्मात्मा व परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं॥ २॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्म परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ ३॥

(मनु० १२।११०)

अर्थ—(दशावरा०) जैसे शिष्ट न्यून से न्यून दश पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म कर्म निश्चित हों, उनका ही आचरण सब लोग करें॥ ३॥

त्रैविद्यो हैतुक स्तर्की नैरुक्तो धर्मपालकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ ४॥ *(मनु० १२।१११)*

अर्थ—(त्रैविद्यो०) उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें, वेदों के तीन विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता, पांचवां तार्किक, न्याय शास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जानने हारा, सातवां धर्म शास्त्रवित्, आठवां वेदज्ञ ब्रह्मचारी, नवां धर्मात्मा सदाचारी विद्वान् गृहस्थ दशवां परोपकारी धर्मपरायण तपोनिष्ठ वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे॥ ४॥

ऋग्वेद विद्यजुर्विच्च सामवेद विदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेयः धर्म संशयनिर्णये॥ ५॥ *(मनु० १२।११२)*

अर्थ—(ऋग्वेद०) ऋग्वेद वित्, यजुर्वेद वित् तथा सामवेद वित्, इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्म संशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिये, और जितने सभा में आप्त तथा धर्मात्मा पुरुष अधिक हों उतनी ही उत्तमता है॥ ५॥

एकोऽपि वेद विद्धर्मं यं व्यवस्थेद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितो ऽयुतैः॥ ६॥

(मनु० १२।११३)

अर्थ—(एकोऽपि०) द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी, वेद के धर्म को जानने वाला संन्यासी अकेला भी जिस धर्म युक्त व्यवहार करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य तथा परमधर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों तथा अधर्मात्माओं के सहस्त्रों, लाखों और करोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्म विषयक व्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परम विद्वान् वेदवित् धर्मात्मा संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सबको मानने योग्य है॥ ६॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुमतानुसार मानना, और समपक्ष में उत्तमों की सम्मति ग्रहण करनी और दोनों पक्ष वाले बराबर उत्तम हों तो वहाँ वेदवित् धर्मात्मा संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपात रहित सर्व हितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिये।

चतुर्भिरपि चैवेतेर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दश लक्षणको धर्म स्सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ७॥ *(मनु० ६।९१)*

अर्थ—(चतुर्भिः) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्नपूर्वक सदा किया करें॥ ७॥

धृतिः क्षमा दयो ऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धी र्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥ ८॥

(मनु० ६।९२)

अर्थ—धर्म अर्थात् न्याय नाम पक्षपात छोड़ कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(अहिंसा) किसी से बैर बुद्धि करके, उसके अनिष्ट करने में कभी प्रवृत्त न होना, (धृतिः) सुख दुःख, हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य्य पूर्वक धर्म में ही स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा, स्तुति, मानापमान को सहन करके धर्माचरण ही करना, (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से, अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य को स्वीकार न करना, (शौचम्) राग द्वेषादि के त्याग से आत्मा और मन को पवित्र रखना तथा जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रिय निग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अनाचार रूपी अधर्म से हटाकर सदाचार रूपी धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (धीः) वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग, दुर्व्यसन, तथा मद्यपानादि के त्याग से बुद्धि को उन्नत करते रहना, (विद्या) जिससे भूमि से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथावत् ज्ञान होता हो उस विद्या को प्राप्त करना, (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना तथा सत्याचरण करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को त्याग कर, शान्त्यादि गुणों का धारण करना धर्म है, इसका ग्रहण और अन्याय, पक्षपातपूर्ण आचरण अधर्म जो कि हिंसा, बैर बुद्धि, अधैर्य, असहनशीलता, मन को पाप कर्म रूपी अधर्म में प्रवृत्त करना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को जीतकर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण रूप अज्ञान है उसमें फंसना, असत्य भाषण करना तथा असत्य मानना, क्रोधादि दोषों में फँसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये॥ ८॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, न ते वृद्धा ये न वदन्ति सत्यम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्य मस्ति, न तत्सत्यं यच्छ लेनाभ्युपेतम्॥ ९॥ *(महाभारते, उ०प० अ० ३५। श्लो० ५८)॥*

अर्थ—(न सा सभा०) वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं जिसमें सत्य नहीं, और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो॥ ९॥

सभा वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं व समञ्जसम्।
अब्रुवन् विश्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषो ॥ १० ॥

(मनु० ८ । १३)

अर्थ—(सभा वा न०) मनुष्य को उचित है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अतिपापी है ॥ १० ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ११ ॥

(मनु० अ० ८ । श्लो० १२)

अर्थ—(धर्मे विद्धः०) अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ॥ १२ ॥

विद्वद्‌भिः सेविताः सद्‌भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १२ ॥ *(मनु० २ । १)*

अर्थ—(विद्वद्‌भिः०) जिसको सत्पुरुष रागद्वेष रहित विद्वान् अपने हृदय के अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त धर्म को तुम धर्म जानो ॥ १२ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो ऽवधीत् ॥ १३ ॥

अर्थ—(धर्म एव०) जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। इसलिये मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिये ॥ १३ ॥ (मनु० ८ । १५) ॥

वृषो हि भगवान्धर्म स्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १४ ॥

(मनु० ८ । १६)

अर्थ—(वृषो हि०) जो सुख की वृष्टि करने हारा, समस्त ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच कहते हैं॥ १४॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्मं त्यजेज्जीवित स्यापि हेतोः। धर्मो नित्यः सुखेदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हे तुरस्य तु नित्यः॥ १५॥ *(म० भा० उप० प० अ० ४०। ११८)*

अर्थ—(न जातु०) मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना *सिद्ध होने के कारण से वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग* कभी न करें, और न लोभ से, चाहे झूठ व अधर्म से चक्रवर्त्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्त्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन आच्छादन जलपान की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य है तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य हैं वे मनुष्य जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते॥ १५॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १६॥ *(मनु० ८। १४)*

अर्थ—(यत्र धर्मो०) जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं॥ १६॥

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी स्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ १७॥

(भर्तृहरि, नी० श० श्लो० ७४)

अर्थ—(निन्दन्तु०) सब मनुष्यों को यह निश्चित रूप जानना चाहिये कि सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्म युक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥ १७ ॥

संवननः ऋषिः । संज्ञानम् देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० १९१ । मं० २)

अर्थ—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूँ कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीत विद्या योगाभ्यासी (संजानाना:) सम्यक् जानने वाले (देवा:) विद्वान् लोग मिलकर (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके, असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्मा ऽधर्म, प्रिया ऽप्रिय को सम्यक् रूप से जानने हारे (व:) तुम्हारे (मनांसि) मन एक दूसरे से अविरोधी होकर पूर्वोक्त एक धर्म में सम्मत होवें, और तुम उसी धर्म को (सं गच्छध्वम्) सम्यक् मिल कर प्राप्त होओ, जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है, और विरुद्ध वाद अधर्म को छोड़कर (सं वदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो ॥ १ ॥

हैम वर्चिः ऋषिः । प्रजापतिर्देवताः । अति शक्वरी छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरो सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृते ऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ॥ २ ॥

(यजु० अ० १९ । मं० ७७)

अर्थ—(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करने हारे सर्वव्यापक सर्वज्ञ न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले धर्म और अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देख कर (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है, (अनृते)

मिथ्या भाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादि लक्षण युक्त न्याय पक्षपात रहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो॥ २॥

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं कर वा वहै।
तेजस्वि नावधी तमस्तु मा विद्विषा वहै॥ ३॥
ओम् शान्ति श्शान्ति श्शान्तिः॥ *(तै० आ० प्र पा० ८। अनु० १)*

अर्थ—(सह ना ववतु०) हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि सब (सह) मिल कर (नौ) हम दोनों प्रीति पूर्वक (अवतु) एक दूसरे की परस्पर रक्षा किया करें (सह) प्रीति से मिलकर (नौ) हम दोनों संसार के पदार्थों को (भुनक्तु) धर्म पूर्वक भोगें और (सह) प्रीति से मिलकर एक दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की उन्नति (कर वा वहै) सदा किया करें। (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) अति प्रकाशमान (अस्तु) होवे, और हम एक दूसरे से (मा विद्विषा वहै) कभी विद्वेष अर्थात् विरोध न करें, किन्तु सदा मित्र भाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह "ओ३म्" नाम है, उसकी कृपा और अपने धर्म युक्त पुरुषार्थ से, हमारे शरीर, मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जो कि अपने और दूसरे से होता है नष्ट हो जावे, और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होकर सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें॥ ३॥

इति गृहाश्रम प्रकरणम्

अथ वानप्रस्थ संस्कार ।

वानप्रस्थ संस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न पुत्र का विवाह होने के पश्चात् पुत्र के भी एक सन्तान हो जाने पर पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे—

अत्र प्रमाणानि (इसमें प्रमाण)—

ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ (शतपथ ब्राह्मणे) ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर गृहस्थ होवे, गृहाश्रम की समाप्ति पर वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवे, तथा वानप्रस्थाश्रम की समाप्ति पर संन्यास ग्रहण करे।

हैम वर्चिः ऋषिः । यज्ञो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्य माप्यते ॥

(यजु० अ० १९ । मं० ३०) ॥

अर्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्य भाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत के पालन से प्रतिष्ठा रूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से (दक्षिणाम्) रात्कार पूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है, और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

आश्वतराश्विः ऋषिः । इन्द्रो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ॥ ३ ॥

(य० अ० २० । मं० २४) ॥

अर्थ—हे (व्रतपतेऽग्ने) नियम पालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (रूपैमि) प्राप्त होता हूँ इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण कराता हूँ, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्ज्वलित कराता हूँ, और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूँ ॥ ३ ॥

भृगु ऋषिः । अजः पञ्चौदनः देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

(अथर्व० कां० ९ । सू० ५ । मं० १)

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे गृहस्थ ! (प्र जानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आ रमस्व) आरम्भ कर (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) नाना प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान पूर्ण दुःखादि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर नित्य जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रान्त अर्थात् प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर ॥ ४ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । तपः देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु ॥ ५ ॥

(अथर्व० कां० १९ । सू० ४१ । मं० १) ॥

अर्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश ग्रहण कर (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रितादि शुभ लक्षण को (उपनिषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारी वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो, जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होकर (जातम्) प्रसिद्धि को प्राप्त होने पर (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम किये हुए आपको (उपसंनमन्तु) समीप आकर आदर करें ॥ ५ ॥

ब्रह्मा ऋषिः। विश्वे देवाः बृहस्पतिः देवताः। बृहतीगर्भाऽनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्ट यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ६ ॥

(अथर्व० १९ । ४० । ३) ॥

अर्थ—सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करें (नः) हमारी (दीक्षाम् मा) दीक्षा को नष्ट मत करें और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी (मा) नष्ट मत करें (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब प्रजा (शिवाः सन्तु) कल्याण करने हारी होवें, जैसे हमारी (मातरः) माता, पितामही, प्रपितामही आदि (शिवा) कल्याण करने हारी होती है, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझे वानप्रस्थ आश्रम की अनुमति देने हारे (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता, विद्वान्सो भैक्ष्य चराञ्चरन्तः ।
सूर्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्रामृतः स पुरुषोह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥

(मुण्डकोपनिद् मुं० १ । खं० २ । मं० ११) ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् (अरण्ये) जङ्गल में (शान्ता) शान्ति के साथ (तपः श्रद्धे) श्रद्धापूमर्वक योगाभ्यास करते हुए परमात्मा में प्रीति

करके (उप वसन्ति) वनवासियों के समीप बसते हैं और (भैक्ष्यचर्या) भिक्षाचरण (चरन्तः) करते हुए जङ्गल में निवास करते हैं (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष, निष्पाप तथा निर्मल होकर (सूर्य द्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहाँ (सः) सो (अमृतः) जन्म मरण से पृथक् (अव्ययात्मा) नाश रहित (पुरुषः) परमात्मा विद्यमान है (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं ॥ इसलिये वानप्रस्थ करना अति उत्तम है ॥ ७ ॥

गृहाश्रमे स्थित्वा विधि वत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रिय ॥ १ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० १)

अर्थ—विधिवत् ब्रह्मचर्यपूर्वक पूर्ण विद्वान् समावर्त्तन के समय स्नान विधि सम्पन्न करने हारा द्विज, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय होकर यथावत् गृहाश्रम करके वन में बसे ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वली पलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० २)

अर्थ—गृहस्थ लोग जब अपने शरीर का चर्म ढीला और केश श्वेत होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० ३)

अर्थ—जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़कर पुत्रों के पास अपनी पत्नी को छोड़ अथवासाथ लेकर वन को जावें ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निः सृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

(मनु० अ० ६ । श्लो० ८) ॥

अर्थ—वहाँ वन में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर, यदि स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के अतिरिक्त विषय सेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे। सबसे मित्रभाव सावधान, नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न ले, सब प्राणीमात्र पर अनुकृपा अर्थात् कृपा करने वाला होवे॥ ५॥

तापसे ष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वन वासिनः॥ ६॥

(मनु० अ० ६। श्लो० २७)

अर्थ—जो जङ्गल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मण रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ द्विज वनवासी हों, उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करें॥ ६॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदी रात्म सं सिद्धये श्रुतीः॥ ७॥

(मनु० अ० ६। श्लो० २९)

अर्थ—इस प्रकार वन में बसता हुआ ब्राह्मण इन और अन्य व्रतादिक दीक्षाओं का सेवन करे तथा आत्मा और परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे, इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो तब तक वानप्रस्थ ही रहे॥ ७॥

अथ विधि—वानप्रस्थ करने का समय पचास वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र के भी पुत्र हो जावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई बन्धु, पुत्र वधू आदि को भली भांति गृहाश्रम विषयक सब शिक्षा करके वन के लिये यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे अन्यथा ज्येष्ठ पुत्र को अथवा जिस पुत्र के पास रहना चाहे उसको सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना, और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्रादि को धर्म मार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना।

जिस दिन वानप्रस्थ करना हो उससे पूर्व दिन यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला तथा यज्ञ वेदी बनावे। संस्कार वाले दिन प्रातः स्नान तथा सन्ध्या वन्दन कर वेदी के समीप, समिधा, घृत, स्रुवादि सब सामग्री रख स्थालीपाक बना उस पर पुष्कल घृत डाल कर मिलाकर रख, वेदी के पश्चिम में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठ कर, सङ्कल्पोच्चारणकर तत्पश्चात् आचमन, तथा अङ्ग स्पर्श कर, वेदी में समिधा चयन कर ओम् भू र्भुवः स्वः। ओम् भू र्भुवः स्वर्धौरिव भूम्ना० मन्त्र का उच्चारण कर अग्न्याधान करे। ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने० मन्त्र का उच्चारण कर अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर ओम् अयन्त इध्म० आदि चार मन्त्रों से तीन समिदाधान कर, ओम् अयन्त इध्म आत्मा० मन्त्र से पञ्च घृताहुती देकर "ओम् अदितेऽनुमन्यस्व" आदि चार मन्त्रों से वेदी के चारों ओर जल प्रोक्षण करके घृत की दो "आघारावाज्याहुती" क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण में देकर, घृत की दो "आज्याभागाहुती" वेदी के मध्य में दें। घृत की चार व्याहति आहुती देकर शान्त बैठकर स्थिर चित्त से स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठ करे। तत्पश्चात् वेदी में अग्नि भली भांति प्रज्ज्वलित कर, स्थालीपाक पर भली भांति घृत सेचन कर मिला स्थालीपाक की आहुति दे।

प्रजापति ऋषिः। प्रजापत्यादयः देवताः। धृतिच्छन्दः। ऋषभः, षड्जः स्वरः॥

ओम् काय स्वाहा॥ *सुख के लिये सुहुत है॥*

ओम् कस्मै स्वाहा॥ *सुख स्वरूप के लिये सुहुत है॥*

ओम् कतमस्मै स्वाहा॥ *जो विद्यमान हैं उनके लिये सुहुत है॥*

ओम् आधिमाधीताय स्वाहा॥

विषयग्राहिणी धारणा शक्ति के लिये सुहुत है॥

ओम् मनः प्रजापतये स्वाहा॥ *मन रूपी प्रजापति के लिये सुहुत है॥*

ओम् चित्तं विज्ञाताय दित्यै स्वाहा॥

विशेष कर जानने वाले आधार रूप चित्त के लिये सुहुत है॥

ओम् अदित्यै मह्यै स्वाहा॥ *अखण्ड पृथिवी के लिये सुहुत है॥*

ओम् अदित्यै सुमृळीकायै स्वाहा ॥

उत्तम सुखदायिनी माता के लिये सुहुत है ॥

ओम् सरस्वत्यै स्वाहा ॥ *वाणी के लिये सुहुत है ॥*

ओम् सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा ॥

पवित्र करने वाली वाणी के लिये सुहुत है ॥

ओम् सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा ॥ *महान् वेदवाणी के लिये सुहुत है ॥*

ओम् पूष्णे स्वाहा ॥ *पोषक के लिये सुहुत है ॥*

ओम् पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा ॥

पथ्यादि पूर्वक पोषण करने वाले के लिये सुहुत है ॥

ओम् पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा ॥ *मानवोपदेष्टा पोषक के लिये सुहुत है ॥*

ओम् त्वष्ट्रे स्वाहा ॥ *रूपकार शिल्पी के लिये सुहुत है ॥*

ओम् त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा ॥

नौका निर्माण विद्या के शिल्पी के लिये सुहुत है ॥

ओम् त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा ॥ *(यजु० अ० २२। मं० २०) ॥*

नाना रूप प्रदान करने वाले शिल्पी के लिये सुहुत है ॥

प्रजापति ऋषिः। वाजादयः देवताः। अत्यष्टिः छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

ओम् भुवनस्य पतये स्वाहा ॥ *भुवन पति परमात्मा के लिये सुहुत है ॥*

ओम् अधि पतये स्वाहा ॥ *सब के अधिपति परमात्मा के लिये सुहुत है ॥*

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ *(यजु० अ० २२। मं० ३२) ॥*

प्रजा के रक्षक परमात्मा के लिये सुहुत है ॥

प्रजापति ऋषिः। आयुरादयो देवताः। भुरिक्कृतिः भुरिग्धृतिः छन्दः। निषाद, षड्जः स्वरः ॥

ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥

आयु को यज्ञ के द्वारा बढ़ाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् प्राणो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

प्राण को यज्ञ के द्वारा बलवान बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् अपानो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

अपान को यज्ञ के द्वारा बलवान् बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् व्यानो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

व्यान को यज्ञ के द्वारा उन्नत करो, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् उदानो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

उदान को यज्ञ के द्वारा उन्नत करो, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् समानो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

समान को यज्ञ के द्वारा उन्नत करो, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् चक्षुर्यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

नेत्रों को यज्ञ के द्वारा बलवान् बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् श्रोत्रं यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

श्रोत्र को यज्ञ के द्वारा बढ़ाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् वाग्यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

यज्ञ के द्वारा वाणी को आजस्वी बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् मनो यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

मन को यज्ञ के द्वारा महान् बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् आत्मा यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

यज्ञ के द्वारा आत्मोन्नति करो, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् ब्रह्मा यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

यज्ञ के द्वारा ब्रह्मा बनाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् ज्योतिर्यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

यज्ञ के द्वारा प्रकाश को बढ़ाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् स्वर्यज्ञेन कल्पता थ्थ्ँ स्वाहा ॥

यज्ञ के द्वारा सुख को बढ़ाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् पृष्ठंयज्ञेन कल्पता थ्धं स्वाहा ॥

ज्ञान पिपासा को यज्ञ द्वारा समृद्ध करो, इसके लिये सुहुत है ॥

ओम् यज्ञो यज्ञेन कल्पता थ्धं स्वाहा ॥

(यजु० अ० २२ । मं० ३३) ॥

यज्ञों के द्वारा यज्ञ को बढ़ाओ, इसके लिये सुहुत है ॥

प्रजापति ऋषिः । यज्ञो देवताः । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

ओम् एकस्मै स्वाहा ॥ *एक परमात्मा के लिये सुहुत है ॥*

ओम् द्वाभ्यां स्वाहा ॥ *जगत् के कारण तथा कार्य दोनों के लिये सुहुत है*

ओम् शताय स्वाहा ॥ *अनेकों उत्पन्न पदार्थों के लिये सुहुत है ॥*

ओम् एक शताय स्वाहा ॥

एक सौ व्यवहार वा पदार्थों के लिये सुहुत है ॥

ओम् व्युष्ट्यैस्वाहा ॥

उत्पन्न पदार्थों के जलाने की प्रक्रिया के लिये सुहुत है ॥

ओम् स्वर्गाय स्वाहा ॥ *सुख प्राप्ति के लिये सुहुत है ॥*

इन मन्त्रों से क्रमशः एक-एक करके स्थालीपाक की तेतालीस आज्याहुति देकर घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति दें तत्पश्चात् घृत की चार व्याहृति आहुति देकर स्थालीपाक की एक स्विष्टकृदाहुती देने के पश्चात् घृत की एक प्राजापत्याहुती देकर पूर्णाहुती करे तत्पश्चात् वामदेव्य गान करे । सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर घर का समस्त दायित्व रख, अग्नि होत्र की सामग्री सहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवास कर योगाभ्यास करते हुए शास्त्रों का मनन तथा उत्तम महात्मा जनों का सङ्ग करके आत्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में सतत् प्रयत्नशील रहा करें ।

इति वानप्रस्थ प्रकरणम्

संन्यास संस्कारः ।

"संन्यास" उसको कहते हैं कि जो मोहादि आचरण तथा पक्षपात को छोड़कर विरक्त होकर समस्त पृथिवी में परोपकारार्थ विचरण करे।

अर्थात्—

सम्यङ् न्यसन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरी भवति येन स संन्यासः, संन्यासे। विद्यते यस्य स संन्यासी ॥

अर्थ—(सम्यङ) अच्छे प्रकार अधर्म कार्यों को जिससे दूर किया जाय, या जिस कर्म से सर्वदा श्रेष्ठ कर्मों में स्थिरता की जाय वह "संन्यास कर्म" कहलाता है। संन्यास ग्रहण करने वाले को "संन्यासी" कहते हैं।

संन्यास संस्कारः—संन्यास ग्रहण करते समय संन्यास ग्रहण विषयक जो कर्मकाण्ड सम्पन्न किया जाता है उसे "संन्यास संस्कार" कहते हैं।

काल

प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ के वनस्थ अर्थात् वानप्रस्थ, वनस्थ हो के संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करते-करते वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को क्रम संन्यास कहते हैं।

द्वितीय प्रकार

यद हरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ॥

(यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है) ॥

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा न भी हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥ *(यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है) ॥*

अर्थ—यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपात रहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मृत्यु पर्यन्त संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ।

अत्र वेद प्रमाणानि—(इसमें वेद प्रमाण) —

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । विराट् पंक्तिः छन्दः ॥
पञ्चमः स्वरः ॥

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा ।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं १)

अर्थ—मैं ईश्वर, संन्यास लेने हारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूँ कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करने हारा (इन्द्रः) सूर्य्य (शर्य्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम फलों के रस को (पिवतु) पीवे, और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बढ़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये, हे (इन्दो) चन्द्रमा के समान सब को आनन्द करने हारे पूर्ण विद्वन् ! तू संन्यास लेकर सब पर (परिस्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥ १ ॥

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । विराट् पंक्तिः छन्दः ॥
पञ्चमः स्वरः ॥

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं २) ॥

अर्थ—हे (सोम) सौम्य गुण सम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सबके अन्तःकरण को सींचने हारे ! (दिशांपत) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यो को सच्चा ज्ञान देकर पालन करने हारे (इन्दो) शमादि गुण युक्त संन्यासिन् ! तू (ऋत वाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्य भाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के भाषण मे सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम पूर्वक य्रोगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरसता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को (आपवस्व) पवित्र कर, (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त परमात्मा के लिये (परिस्रव) सब ओर से नमन कर ॥ २ ॥

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । विराट् पंक्तिः छन्दः ॥ पञ्चमः स्वरः ॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्सत्यकर्मन् ।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं ४) ॥

अर्थ--हे (ऋत द्युम्न) सत्य धन और कीर्ति वाले यतिवर ! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़ कर यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्य कर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्म वाले संन्यासिन् ! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ (श्रद्धाम्) सत्य धारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ (सोम) सौम्य गुण सम्पन्न (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मा वाले (सोम) योगैश्वर्य युक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! (धात्रा) सकल विश्व के धारण करने हारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परि स्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ३ ॥

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । विराट् पंक्तिः छन्दः ॥ पञ्चमः स्वरः ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३वाचं वदन् ।
ग्रावणा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं ६)

अर्थ—हे (छन्द स्याम्) स्वतंत्रता युक्त (वाचम्) वाणी को (वदन) कहते हुए (सोमेन) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्द प्रद ! (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करने हारे संन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्य युक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जानने हारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सबको (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनो को (परि स्रव) सब प्रकार से प्राप्त कर॥ ४॥

कश्यपः ऋषिः। पवमानः सोमः देवताः। विराट् पंक्तिः छन्दः॥ पञ्चमः स्वरः॥

यत्र ज्योति रजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ ५॥

(ऋ० मं० ९। सू० ११३। मं ७)

अर्थ—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करने हारे पवित्र स्त्ररूप (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहाँ तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म मरण और (उदिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझको (इन्द्राय) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिए, और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परि स्रव) आनन्द की वर्षा कीजिय॥ ५॥

कश्यपः ऋषिः। पवमानः सोमः देवताः। निचृत् पंक्तिः छन्दः॥ पञ्चमः स्वरः॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रा सूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ६॥

अर्थ—हे (इन्दो) आनन्द प्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस मुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारण रूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु (तत्र) उस

अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिए, (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परिस्रव) आर्द्रभाव से आप मुझको प्राप्त हों ॥ ६ ॥ (ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं ८) ॥

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । निचृत् पंक्तिः छन्दः ॥ पञ्चमः स्वरः ॥

यत्रा नुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं ९) ॥

अर्थ—हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना है (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविधि अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित (त्रिदिते) तीन, सूर्य, विद्युत् और भूमिस्थ अग्नि से प्रकाशित सुख स्वरूप में, (दिवः) कामना करने योग्य, शुद्ध कामना वाले (लोकाः) यथार्थ ज्ञान (ज्योतिष्मतः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिए और (इन्द्राय) उस परमानन्द युक्त ऐश्वर्य के लिये (परि स्रव) कृपा से प्राप्त होवें ॥ ७ ॥

कश्यपः ऋषिः । पवमानः सोमः देवताः । निचृत् पंक्तिः छन्दः ॥ पञ्चमः स्वरः ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥

(ऋ० मं० ९ । सू० ११३ । मं १०)

अर्थ—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती है (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही सुख का धारण (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त मुक्ति वाला (कृधि) कीजिए, तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझ पर (परि स्रव) करुणावृत्ति कीजिये ॥ ८ ॥

कश्यपः ऋषिः। पवमानः सोमः देवताः। निचृत् पंक्तिः छन्दः॥ पञ्चमः स्वरः॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९॥

(ऋ० मं० ९। सू० ११३। मं ११)॥

अर्थ—हे (इन्दो) परम ऐश्वर्ययुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (चं) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित है, (यत्र) जिस आप में (कामस्यः) अभिलाषी पुरुष को (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझको (अमृतं) जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्ष प्राप्ति युक्त, कि जिससे मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिए और इसी प्रकार सब जीवों को (परि स्रव) सब ओर से प्राप्त हों॥ ९॥

बृहस्पतिः बृहस्पति र्वा लौल्य अदितिर्वा दाक्षायणी ऋषिः। देवाः देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धार स्वरः॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्य पिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्य्यमजभर्त्तन॥ १०॥

(ऋ० मं० १०। सू० ७२। मं ७)॥

अर्थ—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगों ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूळहम्) गुप्त (आसूर्य्यम्) स्वयं प्रकाश स्वरूप, सूर्य्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उसको (अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब लोकों के गृहस्थादि मनुष्य हैं, उनको सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है॥ १०॥

ब्रह्मा ऋषिः। तपः देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप निषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सं नमन्तु॥ ११॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ४१। मं १)॥

अर्थ—हे विद्वानों ! जो (ऋषयः) वेदार्थ विद्या को प्राप्त (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्य्य रूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य्य से ही प्राप्त होवें, उनका (देवाः) विद्वान् लोग (उप संनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे, (तत्) उससे (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥ ११ ॥

अथ मनुस्मृते श्श्लोकाः (मनुस्मृति के श्लोक)–

वनेषु तु विहृत्यै वं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थ मायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परि व्रजेत्॥ १॥

(मनु० ६ । ३३) ॥

अर्थ—(वनेषु तु०) इस प्रकार जङ्गलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष अथवा न्यून से न्यून बारह वर्ष तक विहार करके आयु के चतुर्थ भाग अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ॥ १ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत्॥ २॥

(मनु० ६ । ३६) ॥

अर्थ—(अधीत्य विधि०) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य्याश्रम से चारों वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्मपूर्वक पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्यानुसार यज्ञ करके, मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥ २ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्॥ ३॥

(मनु० ६ । ३८) ॥

अर्थ—(प्राजापत्यां०) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है कर, आहवनीय

गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके विद्वान् ब्राह्मण गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥ ३ ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

(मनु० ६ । ३९) ॥

अर्थ—(यो दत्वा०) जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान तथा सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी, वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी के लिये मोक्षलोक, और सब लोकान्तर तेजोमय अर्थात् ज्ञान से प्रकाशमय हो जाते हैं ॥ ४ ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रा पचितो मुनिः।
समुपादेषु कामेशु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ५ ॥ *(मनु० ६ । ४१) ॥*

अर्थ—(आगारात्०) जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण तथा मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से निकल कर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे, अथवा ब्रह्मचर्य्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥ ५ ॥

अनग्नि रनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽ सङ्कसुको मुनिर्भाव समाहितः ॥ ६ ॥ *(मनु० ६ । ४३) ॥*

अर्थ—(अनग्निः) वह संन्यासी आहवनीयादि अग्नियों से रहित तथा कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिर बुद्धि, मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥ ६ ॥

अनग्निः पद से भ्रान्ति में पड़कर संन्यासियों का अग्नि दाह नहीं करते तथा संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गयाहै। अनग्निः पद से आहवनीयादि अग्नियों को छोड़ना अभिप्रेत है, अग्नि का स्पर्श या दाह कर्म छोड़ना नहीं।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ७ ॥ *(मनु० ६ । ४५) ॥*

अर्थ—(नाभिनन्देत०) न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की करता रहे ॥ ७ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्य पूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥ ८॥ *(मनु० ६ । ४६)॥*

अर्थ—(दृष्टि पूतां०) चलते समय आगे देखकर पैर रक्खे, सदा वस्त्र से छानकर जल पिये, सब से सत्ययुक्त वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे ॥ ८॥

अध्यात्म रति रासीनो निरपेक्षोनिरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ९॥ *(मनु० ६ । ४९)*

अर्थ—(अध्यात्म रति०) इस संसर में आत्मनिष्ठा में स्थित, सबसे सर्वथा अपेक्षा रहित, मांस मद्यादि अभक्ष्य का सर्वथा त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे, और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥ ९ ॥

क्लृप्त केश नखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्य पीडयन्॥ १०॥ *(मनु० ६ । ५२)*

अर्थ—(क्लृप्त०) सब सिर के बाल दाढ़ी, मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री अर्थात् जलपात्र तथा दण्ड रक्खे तथा कुसुम्भी रंग के रंगे हुए वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत अर्थात् प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरण किया करे॥ १० ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन राग द्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाम मृत तत्वायकल्पते॥ ११॥ *(मनु० ६ । ६०)*

अर्थ—(इन्द्रियाणां०) जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, मोक्ष को प्राप्त होता है॥ ११ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्म कारणाम्॥ १२॥ *(मनु० ६ । ६६)*

अर्थ—(दूषितोऽपि०) यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि संन्यासी धर्म ही का आचरण करे, ऐसा ही अन्य ब्रह्मचर्य्याश्रमादि के मनुष्यों को भी करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर सम बुद्धि रक्खे, इत्यादि उत्तम काम करने के लिए ही संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु दण्ड एवम् काषाय वस्त्रादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है॥ १२॥

अथवा संन्यासी गेरु से रंगे हुए गैरिक वस्त्र पहिने।

फलं कतक वृक्षस्य यद्यप्यम्बु प्रसादकम्।
न नाम ग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ १३॥ *(मनु० ६ / ६७)*

अर्थ—(फलं कतक०) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके नाम ग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता, किन्तु उसको लेकर, पीसकर जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है, वैसे नाम मात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है अन्यथा नहीं॥ १३॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृति प्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ १४॥ *(मनु० ६ / ७०)॥*

अर्थ—(प्राणायामा०) इस पवित्र संन्यासाश्रम को सफल करने के लिये संन्यासी विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सप्त व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणवलगाकर, जैसा कि गृहाश्रम के संध्या प्रकरण में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युकृष्ट तप करता है॥ १४॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ १५॥

(मनु० ६ / ७१)

अर्थ—(दह्यन्ते०) क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं॥ १५॥

प्राणयामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वर गुणान्॥ १६॥

(मनु० ६ । ७२)

अर्थ—इसलिए संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को, धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से संग से उत्पन्न हुए दोषों, और ध्यान से अविद्या पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर, सब दोषों को भष्म कर देवें॥ १६॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सं पश्येद् गतिमस्यतरात्मनः॥ १७॥ *(मनु० ६ । ७३)॥*

अर्थ—(उच्चावचेषु०) बड़े छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति को ही ध्यान योग से संन्यासी देखा करें॥ १७॥

सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्म भिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ १८॥ *(मनु० ६ । ७४)*

अर्थ—(सम्यग्दर्शनिन०) जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता। और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, धर्मानुष्ठान व षड् दर्शनों के ज्ञान से रहित होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है॥ १८॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गे वैदिकश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ १९॥ *(मनु० ६ । ७५)*

अर्थ—(अहिंसये०) जो निवैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और सत्य भाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्ति रूप मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है॥ १९॥

यदाभावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृह।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २० ॥

(मनु० ६ । ८०)

अर्थ—(यदा भावेन०) जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निस्पृह होता है, तभी इस लोक, इस जन्म मरण से छुटकारा पाकर, परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होकर, मुक्ति काल में निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ २१ ॥ *(मनु० ६ । ८१)*

अर्थ—(अनेन) इस विधि से धीरे-धीरे सङ्ग से उत्पन्न हुए दोषों को छोड़ कर, हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विशेष कर निर्मुक्त होकर विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ २१ ॥

इदं शरणामज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यमितिमानत्यमिच्छताम् ॥ २२ ॥

(मनु० ६ । ८४) ॥

अर्थ—(इदं शरणाम्०) जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके संन्यास ले, वह भी विद्या का अभ्यास सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास और "ओ३म्" का जप, ओर उसके अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख की खोज करने हारे, और यही नियत मुक्तिकाल में अनन्त सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है ॥ २२ ॥

अनेन क्रम योगे परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २३ ॥ *(मनु० ६ । ८५)*

अर्थ—(अनेन क्रम योगेन०) इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है, वह इस संसार और शरीर में सब पापों से निवृत होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

संन्यास ग्रहण का विधि—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे, वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो, उसी दिन नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्ध पान करके उपवास और भूमि में शयन, प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्त देश में "ओ३म्" का जप किया करे, तथा एक दिन पूर्व यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे, सभा मण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि साकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो, प्रहर रात्रि से उठकर, शौच, दन्तधावन, स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम, ध्यान और "ओ३म्" का जप करता रहे। सूर्योदय के समय वेदी के चारों ओर सुन्दर आसन बिछा वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठकर एकाग्र चित्त से अर्थ सहित ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का पाठ करे। तत्पश्चात् उत्तम गृहस्थ, धार्मिक, वैदिक विद्वानों का ऋत्विज् रूप में वरण करके सङ्कल्पोच्चारण कर, आचमन तथा अङ्ग स्पर्श करे। तत्पश्चात् अग्न्याधान, अग्नि प्रदीपन, समिदाधान, घृत प्रतपन, पञ्च घृताहुति, वेदी के चारो ओर जल प्रोक्षण कर, घृत की चार आघारावाज्यभागाहुति तथा घृत की चार व्याहृति आहुति देकर, घृत की निम्नलिखित आहुति देवे—

ओम् भुवन पतये स्वाहा ॥ १ ॥ *(य० अ० २१ मं० २)*

अर्थ—(भुवनपतये) समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् भूतानां पतये स्वाहा ॥ २ ॥ *(यजु० अ० २ । मं० २)*

अर्थ—(भूतानां पतये) समस्त भूतों प्राणियों के स्वामी के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ ३ ॥ *(यजु० अ० १८ । मं० २८)*

अर्थ—(प्रजापतये) समस्त प्रजा के रक्षक परमात्मा के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ ३ ॥

इनमें से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके घृत की ग्यारह आज्याहुति अर्थात् सब मिल करके तैंतीस घृताहुति देकर, जो विधिपूर्वक मीठा भात बनाया हो उसमें पर्याप्त घृत सेचन कर भली भांति मिला, यजमान जो कि संन्यास ग्रहण

करने वाला है, से भात की आहुति देते जावें, तथा शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति देते जावें—

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ओम् ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वर वो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणो ऽन्तर्हितं हविः स्वाहा॥ १॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ४२। मं० १)॥

अर्थ—(ब्रह्म होता) वेद से ही होता का स्वरूप तथा (ब्रह्म यज्ञः) वेद से ही याज्ञिक विधियों का निरूपण होता है, (ब्रह्मणा स्वर वः मिताः) वेद से ही आधारभूत स्तम्भ निरूपित होते हैं (ब्रह्मणः अध्वर्युः जातः) वेद के ज्ञान से ही यजुर्वेद के कर्मकाण्ड का ज्ञाता अध्वर्यु बनता है, (ब्रह्मणः अन्तर्निहितं हविः) वेद से ही हव्य पदार्थ निदेशित हैं॥ १॥

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवताः। ककुष्मती पथ्या पंक्तिः छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

ओम् ब्रह्म स्रुचो घृतवती ब्रह्मणा वेदि रूद्धिता।
ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ४२। मं० २)

अर्थ—(ब्रह्म स्रुचः) ब्रह्म ही (घृतवतः) घृताहुति देने वाला मेरा स्रुचा है (ब्रह्मणा वेदिः उद्हिता) ब्रह्म ही मेरी उत्कृष्ट कल्याणकारी वेदि है, (ब्रह्म यज्ञः च सत्रं) ब्रह्म ही मेरायज्ञ तथा दीर्घकाल तक चलने वालायज्ञ सत्र है, (ऋत्विजः ये हविष्कृतः शमिताय) कल्याणकारी हवि का व्यावस्थाकार ऋत्विज ब्रह्म ही है (स्वाहा) इसके लिये सुहुत है॥ २॥

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवताः। त्रिष्टप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् अंहो मुचे प्रभरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमा वृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्यास्सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा॥ ३॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ४२। मं० ३)

अर्थ—(अंहो मुचे) दुःख रूप पापों को दूर करने वाले परमात्मा में, मैं (मनीषाम्) अपनी मननशील बुद्धि को (आ प्रभरे) विशेषतः समर्पित करता हूँ,

(सु त्राम्णे) भली भांति सब की रक्षा करने हारे परमात्मा को (सु मतिम) कल्याणकारी बुद्धि के द्वारा (आ वृणानः) वरण करता हूँ, हे करुणा करात्मन् ! आप (इदं हव्यम्) मेरे इस हवनीय पदार्थों तथा समर्पित बुद्धि को कृपाकर (प्रति गृभाय) ग्रहण करें, आपकी कृपा से (यजमानस्य) मुझ यजमान की (कामाः) समस्त अभिलाषाएं (सत्याः सन्तु) सफल हों, (स्वाहा) इसलिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म देवताः । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

ओम् अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां नपातमश्विनाहुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(अश्विना) हे विद्वानों तथाउपदेष्टाओ ! मैं समस्त दुःख रूप पापों को दूर करने वाले (यज्ञियानां वृषभं) समस्त यज्ञों में उत्तम तथा हितकारी (पूर्वम् विराजन्तम्) पूर्व से ही विद्यमान् अर्थात् सनातन रूप से सदैव विद्यमान् (अपाम, नपातम्) जल के समान जीवन की रक्षा करने वाले परमात्मन् आपको (धिया हुवे) बुद्धि रूपी विवेकज ज्ञान से ग्रहण करता हूँ (इन्द्रेण) आप अपने ऐश्वर्य से (मे इन्द्रियं) मेरी इन्द्रियों में (ओजः दत्त) सामर्थ्य प्रदान कीजिये (स्वाहा) इसलिये सुहुत है ॥ ४ ॥ (अथर्व० कां० १९ । सू० ४२ । मं० ४) ॥

ब्रह्मा ऋषिः । अग्नि देंवताः । शङ्कुमती पथ्या पंक्तिः छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा॥
इदमग्नये-इदन्नम् ॥ ५ ॥ *(अथर्व० कां० १९ । सू० ४३ । मं० १)*

अर्थ—(यत्र ब्रह्मविदो यान्ति) ब्रह्म वेत्ता जिस आनन्दमय लोक को प्राप्त होते हैं, (दीक्षया) संन्यास की दीक्षा तथा (तपसा सह) योगाभ्यास रूपी तप से (अग्निः) हे अग्नि ! (मा तत्र नयतु) मुझे वहीं ले चल (त्व अग्निः) हे अग्नि ! तू (मे मेधां ददातु) मुझे उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान कर (अग्नये स्वाहा) यह अग्नि के लिये सुहुत है ॥ यहं अग्नि के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ५ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । वायु देंवताः । शङ्कुमती पथ्या पंक्तिः छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्नम् ॥ ६ ॥ *(अथर्व० कां० १९ । सू० ४३ । मं० २)*

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा, जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को ब्रह्म वेत्ता प्राप्त होते हैं, हे वायु ! मुझे प्राण रूपी सामर्थ्य प्रदान करके मुझे वहाँ ले चल। वायु के लिये सुहुत है ॥ यह वायु के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ६ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवताः । शङ्कुमती पथ्या पंक्ति छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे। सूर्याय स्वाहा ॥ इदं सूर्याय-इदन्नम् ॥ ७ ॥ *(अथर्व० कां० १९ । सू० ४३ । मं० ३)*

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्म लोक को ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होते हैं, हे सूर्य ! मुझे दर्शन शक्ति प्रदान करके वहाँ ले चल। यह सूर्य के लिये सुहुत है ॥ यह सूर्य के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ७ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । चन्द्रो देवताः । शङ्कमती पथ्या पंक्तिः छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय-इदन्नम् ॥ ८ ॥ *(अथर्व० कां० १९ । सू० ४३ । मं० ४)*

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होते हैं, हे चन्द्र ! तू मुझे आह्लाददायक मानसिक शक्ति प्रदान करके वहाँ ले चल। यह चन्द्रमा के लिए सुहुत है ॥ यह चन्द्र के लिये है-मेरे लिये नहीं ॥ ८ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । सोमो देवताः । शङ्कुमती पथ्या पंक्तिः छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातुमे। सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय-इदन्नम्॥ ९॥ *(अथर्व० कां० १९। सू० ४३। मं० ५)*

अर्थ—पवित्र संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को विवेक ख्याति सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होते हैं, हें आनन्द से परिप्लावित सोम ! तू मुझे बलवर्धक पय (दुग्धादि) प्रदान करके मुझें वहाँ ले चल। यह सोम के लिये सुहुत है॥ यह सोम के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ९॥

ब्रह्मा ऋषिः। इन्द्रो देवताः। शङ्कुमती पथ्या पंक्ति छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे। इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय-इदन्नम्॥ १०॥ *(अथर्व० कां० १९। सू० ४३। मं० ६)*

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होता है, हे बल शालिन् इन्द्र ! तू मुझे बल प्रदान करके वहाँ ले चल। यह इन्द्र के लिए सुहुत है॥ यह इन्द्र के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १०॥

ब्रह्मा ऋषिः। आपो देवताः। शङ्कुमती पथ्या पंक्ति छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयत्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्भ्यः स्वाहा॥ इदमद्भ्यः-इदन्नम्॥ ११॥ *(अथर्व० कां० १९। सू० ४३। मं० ७)*

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होता है, हे आपः मुझे उसी अमृतमय स्थिति में स्थित कर। यह अद्भ्यः के लिये सुहुत है॥ यह अद्भ्यः के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ ११॥

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्मा देवताः। शङ्कुमती पथ्या पंक्ति छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

ओम् यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥ इदं ब्रह्मणे-इदन्नम्॥ १२॥

(अथर्व० कां० १९। सू० ४३। मं० ८)

अर्थ—संन्यास की दीक्षा तथा योगाभ्यास रूपी तप के द्वारा जिस आनन्दमय ब्रह्मलोक को ब्रह्मवेत्ता संन्यासी प्राप्त होता है, हे ब्रह्मा ! उसी ब्रह्म को मुझे धारण करा। ब्रह्म के लिए सुहुत है॥ यह ब्रह्म के लिये है-मेरे लिये नहीं॥ १२॥

ओम् प्रणापान व्यानोदान समाना मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ्स्वाहा॥ १॥

अर्थ—(प्राणापान०) हृदयस्थ प्राण, पायुस्य अपान, कण्ठस्थ उदान, नाभिस्थ समान तथा सर्व शरीरी व्यान, प्राणायाम के सतत् अभ्यास द्वारा शुद्ध हों, (विरजा) रजोगुण अर्थात् मानसिक चाञ्चल्य तथा (विपात्मा) अज्ञान पूर्ण पापमय संस्कारों से रहित (ज्योतिः अहम्) मैं प्रकाशमय होऊँ इसलिये सुहुतं है॥ १॥

ओम् वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्र जिह्वा प्राणरेतो बुद्ध्याकूति सङ्कल्पा मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ्स्वाहा॥ २॥

अर्थ—(वाङ् मनः०) मेरी वाक्, मन, नेत्र, श्रोत्र,जिह्वा, प्राण, वीर्य, विचार तथा सङ्कल्प सब शुद्ध हो जायें। मैं तम रूप पाप तथा अज्ञान एवम् रज रूप मानसिक चाञ्चल्य से रहित होकर प्रकाशमय अर्थात् ज्ञान सम्पन्न हो जाऊँ इसलिए सुहुत है॥ २॥

ओम् शिरः पाणि पाद पार्श्व पृष्ठोरूदरजंघा शिश्नोपस्थ पाययो मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ्स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(शिरः पाणि पाद०) मेरा शिर, हाथ पैर, पीठ, जांघे, घुटने, पेट, मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय सब शुद्ध हों। मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाश को प्राप्त होऊँ। इसलिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ओम् त्वक् चर्म मा ꣳ स रुधिर मेदोमज्जा स्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम्।

ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(मे त्वक् चर्म०) मेरी त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, मज्जा, स्नायु तथा अस्थियाँ शुद्ध हों तथा मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। इसलिये सुहुत है ॥ ४ ॥

ओम् शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा मे शुध्यन्ताम्।

ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—(मे शब्द स्पर्श०) मेरे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध शुद्ध हों, तथा मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। इसलिये सुहुत है ॥ ५ ॥

ओम् पृथिव्यप्तेजो वायुराकाशा मे शुध्यन्ताम्।

ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ—(मे पृथिवि अप०) मेरी पृथिवि जल, अग्नि वायु तथा आकाश शुद्ध हों तथा मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। तदर्थ सुहुत है ॥ ६ ॥

ओम् अन्नमय प्राणामय, मनोमय, विज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम्।

ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ—(मे अन्नमय०) मेरा अन्नमय अर्थात् स्थूल शरीर, प्राण, अपान, व्यान, समान तथा व्यान, प्राणमय, वाक्, हस्त, उपस्थ, वायु पाद तथा मन मनोमय, नेत्र, श्रोत्र, रसना, नासिका, त्वचा, चित्त तथा बुद्धि विज्ञानमय, अहङ्कार, आनन्दमय शरीर सब शुद्ध हों, मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। इसलिये सुहुत है ॥ ७ ॥

ओम् विविष्टयै स्वाहा॥ ८॥

अर्थ—(विविष्टयै०) विशिष्टतः परमात्मा के लिये सुहुत है॥ ८॥

ओम् कषोत्काय स्वाहा॥ ९॥

अर्थ—(कषोत्काय०) नाम रूपात्मक जगत् रूपकषाय को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के लिये सुहुत है॥ ९॥

ओम् उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा॥ १०॥

अर्थ—(उत्तिष्ठ पुरुष०) हे पुरुष ! आलस्य त्याग कर उठ (हरित) ज्ञान को हरण करने वाले (लोहित) क्रोधादि से लालिमा धारण करने वाले (पिङ्गलाक्षि) तमोगुण रूप अज्ञानादि सब को (देहि देहि) सर्वथा त्याग (ददापयिता) दानशील वृत्ति युक्त होकर शुद्ध हो। मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। इसके लिये सुहुत है॥ १०॥

ओम् स्वाहा, मनोवाक्काय कर्मणि मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा॥ ११॥

अर्थ—(स्वाहा०) सुहुत है, मेरा मन वाणी, काया तथा कर्म शुद्ध हों, मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ॥ तदर्थ सुहुत है। ११॥

ओम् अव्यक्त भावैरहङ्कारै शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा॥ १२॥

अर्थ—(अव्यक्तभावै०) अव्यक्त स्वरूप अहङ्कारादि से रहित होकर पाप तथा चाञ्चल्य मुक्त होकर मैं प्रकाशमय होऊँ।तदर्थ सुहुत है॥ १२॥

आत्मा मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा॥ १३॥

अर्थ—(आत्मा मे०) मेरी आत्मा पवित्र हो, मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ। इसलिये सुहुत है॥ १३॥

ओम् अन्तरात्मा मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ् स्वाहा॥ १४॥

अर्थ—(अन्तरात्मा मे०) मेरे मनादि अन्तःकरण शुद्ध हों। मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ इसीलिये सुहुत है॥ १४॥

ओम् परमात्मा मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया सँ स्वाहा॥ १५॥

अर्थ—(परमात्मा मे०) मेरे ऊपर परमात्मा की विशुद्ध कृपा हो, मैं पाप तथा चाञ्चल्य रहित होकर प्रकाशमय होऊँ, इसलिए सुहुत है॥ १५॥

"प्राणापान"० इत्यादि से लेकर "परमात्मा में शुध्यताम्"० इत्यन्त मन्त्रों से *संन्यासी के लिये उपदेश है*, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्या विज्ञानादि शुभ गुण कर्म स्वभावों से युक्त होकर परमात्मा को ही अपना सहायक जानकर अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर, प्राण, मन तथा इन्द्रिय आदि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार से प्रवृत्त कर पक्षपात, कपट तथा अधर्म युक्त व्यवहारों को छोड़ अन्यों के दोष पढ़ाने और उपदेश से छुड़ा स्वयं आनन्दित होकर, सब को आनन्द पहुँचाता रहे॥

इन पन्द्रह मन्त्रों से एक-एक करके भात तथा घृत की आहुति देनी, पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से पैंतीस घृताहुति देवें—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ १६॥ *अग्नि के लिये सुहुत है॥ १६॥*

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्य स्वाहा॥ १७॥

विश्वे देवों के लिये सुहुत है॥ १७॥

ओम् ध्रुवाय भूमाय स्वाहा॥ १८॥

निश्चल भूमा के लिये सुहुत है॥ १८॥

ओम् ध्रुव क्षितये स्वाहा॥ १९॥

अक्षय रूप ध्रुव के लिये सुहुत है॥ १९॥

ओमच्युतक्षितये स्वाहा॥ २०॥

स्थिर तथा अक्षय के लिये सुहुत है॥ २०॥

ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा॥ २१॥

इष्ट साधक अग्नि के लिये सुहुत है॥ २१॥

ओम्धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ *धर्मवान होने के लिये सुहुत है ॥ २२ ॥*

ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥

अधर्म रहित होने के लिये सुहुत है ॥ २३ ॥

ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ *जल के लिये सुहुत है ॥ २४ ॥*

ओमोषधि वनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥

औषधि तथा वनस्पतियों के लिये सुहुत है ॥ २५ ॥

ओम् रक्षो देव जनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥

रक्षक देव जनों के लिये सुहुत है ॥ २६ ॥

ओम् गृहाभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥ *घरों के लिये सुहुत है ॥ २७ ॥*

ओमवसानेभ्य स्वाहा ॥ २८ ॥ *मृत्यु के लिये सुहुत है ॥ २८ ॥*

ओमवसान पतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥

मृत्यु के स्वामी के लिये सुहुत है ॥ २९ ॥

ओम् सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥

समस्त प्राणियों के लिये सुहुत है ॥ ३० ॥

ओम् कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥ *कामनाओं के लिये सुहुत है ॥ ३१ ॥*

ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ *अन्तरिक्ष के लिये सुहुत है ॥ ३२ ॥*

ओम् पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥ *पृथिवी के लिये सुहुत है ॥ ३३ ॥*

ओम् दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ *द्यौ के लिये सुहुत है ॥ ३४ ॥*

ओम् सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥ *सूर्य के लिये सुहुत है ॥ ३५ ॥*

ओम् चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ *चन्द्रमा के लिये सुहुत है ॥ ३६ ॥*

ओम् नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ *नक्षत्रों के लिये सुहुत है ॥ ३७ ॥*

ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ *इन्द्र के लिये सुहुत है ॥ ३८ ॥*

ओम् बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥ *बृहस्पति के लिये सुहुत है ॥ ३९ ॥*

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ *प्रजापति के लिये सुहुत है ॥ ४० ॥*

ओम् ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥ *परमात्म के लिये सुहुत है ॥ ४१ ॥*

ओम् देवेभ्य स्वाहा ॥ ४२ ॥ *देवों के लिये सुहुत है ॥ ४२ ॥*

ओम् परमेष्ठिने स्वाहा ॥ ४३ ॥

परमात्म में स्थितों के लिये सुहुत है ॥ ४३ ॥

ओम् तद्ब्रह्म ॥ ४४ ॥ *वह ही ब्रह्म है ॥ ४४ ॥*

ओम् तद्वायुः ॥ ४५ ॥ *वह ही वायु है ॥ ४५ ॥*

ओम् तदात्मा ॥ ४६ ॥ *वह ही आत्मा है ॥ ४६ ॥*

ओम् तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥ *वह सत्य है ॥ ४७ ॥*

ओम् तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ *वह सर्वस्व है ॥ ४८ ॥*

ओम् तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥ *उस सनातन ब्रह्म के लिये नमस्कार है ॥ ४९ ॥*

ओम् अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वभूतिषु। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्र स्त्व ँ् रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः। त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भू र्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५० ॥

अर्थ—(विश्व मूर्तिषु, भूतेषु) समस्त मूर्त्त रूप प्राणियों के (गुहायां अन्तश्चरति) अन्तःकरण रूपी गुफा में विचरने वाले, हे परमात्मन् ! (त्वं यज्ञः त्वं वषट्कार) तुम ही यज्ञ हो, मनुष्यों के प्रति आहुति रूप वषट्कार तुम हो, (त्वं इन्द्रः त्वं ँ् रुद्रः) तुम इन्द्र हो, तुम रूद्र हो (त्वं विष्णुः त्वं ब्रह्म) तुम विष्णु हो, तुम ब्रह्म हो (त्वं प्रजापतिः त्वं तदाप आपः) तुम प्रजापति हो, तुम ही आपः के आधार रूप आपः हो, (ज्योती रसः अमृत ब्रह्म) तुम ज्योति, रस अमृत तथा ब्रह्म हो (भूः भुवः स्वः ओम् स्वाहा) तुम भूः र्भुवः स्वः तथा ओ३म् हो, आपके लिए सुहुत है ॥ ५० ॥

"प्राणापान०" से लेकर "अन्तश्चरति०" मन्त्र तक सब मन्त्र "तैत्तिरीय आरण्यक" दशम प्रपाठक अनुवाक, ५१—६०, ६६—६८ के हैं।

उपर्युक्त पचास मन्त्रों से घृत की आज्याहुति देकर, तदनन्तर जो संन्यास लेने वाला है वह पाँच या छः केशों को छोड़कर दाढ़ी, मूँछ, केश तथा लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर करा कर यथावत् स्नान करे।

तदनन्तर संन्यास लेने वाला पुरुष अपने शिर पर ऋग्वेदोक्त पुरुष सूक्त के मन्त्रों से एक सौ आठ बार अभिषेक करे।

पुरुष सूक्तः (ऋ० मं० १० । सू० ९०) ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिँ विश्वतो वृत्वा ऽत्य तिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (सहस्त्र शीर्षा) जो सब प्राणियों के हजारों शिर (सहस्त्राक्षः) हजारों नेत्र और (सहस्त्र पात्) असङ्ख्य पाद जिसके मध्य में हैं, ऐसा (पुरुषः) सर्वत्र व्यापक परिपूर्ण परमेश्वर (विश्वतः) सब ओर से (वृत्ता) आवृत कर (दशाङ्गुलम्) पांच स्थूल भूत तथा पांच सूक्ष्म भूत रूप जगत् के अवयव तथा जगत् को (अति अतिष्ठत्) उल्लंघकर स्थित होता अर्थात् सब से पृथक् भी स्थित होता है ॥ १ ॥

नारायण ऋषिः । ईशानो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्व स्येशानो यदन्ने ना तिरोहति ॥ २ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जो (भूतम) उत्पन्न हुआ (व) और (भाव्यम्) जो उत्पन्न होने वाला (उत) और (यत) जो (अन्नेन) पृथिवी आदि के सम्बन्ध से (अति रोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस (इदम्) इस प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप (सर्वम्) समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) दीर्घकालिक मोक्ष सुख वा कारण का (ईशानः) अधिष्ठाता (पुरुषः) सत्य गुण कर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा (एव) रचता है ॥ २ ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मनुष्यों ! इस जगदीश्वर का (एतावान्) यह दृश्य तथा अदृश्य ब्रह्माण्ड (महिमा) महित्व सूचक है (अतः) इस ब्रह्माण्ड से (पुरुषः) परिपूर्ण

परमात्मा (ज्यायान्) अति प्रशंसित और बड़ा है (च) और (अस्य) उस ईश्वर के (विश्वा) सब (भूतानि) पृथिव्यादि जगत् उसके एक (पादः) अंश है और (अस्य) इस जगत् स्रष्टा का (त्रिपादः) तीन अंश अर्थात् अधिकांश (अमृतम्) नाश रहित महिमा (दिवि) अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में है ॥ ३ ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने ऽअभि ॥ ४ ॥

अर्थ—(त्रिपात्) अमृत रूप तीन पादों वाला (पुरुषः) सर्वपालक परमेश्वर (ऊर्ध्वः) सर्वोत्तम मुक्ति स्वरूप, संसार से पृथक् (उत् एत) उदय को प्राप्त होता है (अस्य) उस परमात्मा का एक भाग (इह) इस जगत् में (पुनः) बार बार उत्पत्ति प्रलय के चक्र से (अभवत्) होता है (ततः) इसके अनन्तर (साशना नशने) खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड़ इन दोनों के (अभि) प्रति (विष्वङ्) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (वि अक्रामत्) विशेष कर व्याप्त होता है ॥ ४ ॥

नारायण ऋषिः । सृष्टा देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तस्माद्विराड जायत विराजो अधि पुरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (तस्मात्) उस सनातन, पूर्ण परमात्मा से (विराट्) विविध प्रकार के पदार्थों से प्रकाशमान विराट् ब्रह्माण्ड-स्वरूप जगत् (अजायत) उत्पन्न होता है (विराजः) इस विराट् संसार के (अधिः) ऊपर अधिष्ठाता (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है (अथो) इसके अनन्तर (सः) वह परमात्मा (पुरः) पहिले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी उत्पन्न करता है, उसको जानो ॥ ५ ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवताः । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जब (हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञम्) मानस यज्ञ एवम् सृष्टि यज्ञ को (अतन्वत) विस्तृत करते हैं (अस्य) परमात्मा के इस सृष्टि यज्ञ के (वसन्तः) वसन्त ही (अस्य) उसका (आज्यम्) घृत (आसीत्) है (ग्रीष्मः) ग्रीष्म प्रज्ज्वलन रूप ईंधन है तथा (शरत्) शरद् ऋतु (हविः) सामग्री है ॥६ ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (देवाः) विद्वान् (च) और (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन करते हुए (ऋषयः) मन्त्रार्थ जानने वाले ज्ञानी लोग जिस (अग्रतः) सृष्टि से पूर्व (जातम्) प्रसिद्ध हुए (यज्ञम्) सम्यक् पूजने योग्य (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (बर्हिषि) मानस ज्ञान यज्ञ में (प्र औक्षन्) सींचते अर्थात् धारण करते हैं वे ही (तेन) उसके उपदेश किये हुए वेद से (अयजन्त) उसका पूजन करते हैं (तम्) उसी को तुम लोग भी जानो ॥ ७ ॥

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवताः । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (तस्मात्) उस पूर्वोक्त (सर्वहुत) जो सब से ग्रहण किया जाता उस (यज्ञात्) पूजनीय पुरुष परमात्मा से सब (प्रषदाज्यम्) दध्यादि भोग्य पदार्थ (सम्भृतम्) सम्यक् सिद्ध उत्पन्न हुआ (ये) जो (आया:) वन के सिंहादि पशु (च) और (ग्राम्याः) गौ आदि ग्राम्य पशु हैं (तान्) उन वायु के तुल्य गुणों वाले (पशून्) पशुओं को जो (चक्रे) उत्पन्न करता है, उसको तुम जानो ॥ ८ ॥

नारायण ऋषिः । स्रष्टेश्वरो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जीज्ञरे।

छन्दाᳬंसिजज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! तुम को चाहिए कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय (सर्वहुतः) जिसके प्रति सब लोग समस्त उत्तम पदार्थों को देते या समर्पित करते, उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते (तस्मरत्) उस परमात्मा से (छन्दाᳬ सि) अथर्ववेद (जीज्ञरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) उस परमात्मा से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत्) उत्पन्न होता है, उसको जानो ॥ ९ ॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥ १० ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! तुम को (अश्वाः) घोड़े तथा (ये) जो (के) कोई (च) और (उभयादतः) दोनों ओर दांतो वाले हैं वे (तस्मात्) उस परमेश्वर से (अजायन्त) उत्पन्न हुए (तस्मात्) उसी से गौवें आदि (ह) निश्चय कर (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए और (तस्मात्) उससे (अजावयः) बकरी भेड़ आदि (जाताः) उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार जानना चाहिये ॥ १० ॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

अर्थ—हे विद्वान् लोगों ! आप (यत्) जिस (पुरुषम्) पूर्ण परमेश्वर को (वि, अदधुः) विविध प्रकार से धारण करते हो, उसको (कतिधा) कितने ही प्रकार से (वि अकल्पयन्) विशेषकर कहते हैं (अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में श्रेष्ठ (मुखम्) मुख के समान (किं) कौन है (बाहू) बाहुरूपी जल का धारण करने वाला (कौ) कौन है (अरु पादा) घुटनों के समान निरन्तर क्रियाशील तथा पादरूप शरीर का आश्रय (का) कौन (उच्येते) कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ १२॥

अर्थ—हे विद्वानों ! तुम (अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (ब्राह्मणः) ईश्वर तथा वेद का ज्ञाता, (मुखम्) मुख के तुल्य, ब्राह्मण है (बाहूः) भुजाओं के तुल्य, बल तथा पराक्रम युक्त (राजन्यः कृतः) क्षत्रिय को किया (यत्) जो (ऊरु) जङ्घा के तुल्य निरन्तर कार्यरत् रहने वाला (तत्) वह (अस्य) इसका (वैश्यः) व्यौपार में सर्वत्र प्रवेश करने हारा वैश्य है (पद्भयाम्) निरभिमान रूप से सेवारत रहने तथा (शूद्रः) मूर्खता आदि गुणों से युक्त शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ ये उत्तरोत्तर क्रम से जानो॥ १२॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ १३॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! परमात्मा के (मनसः) ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (जातः) उत्पन्न हुआ (चक्षोः) ज्योतिस्वरूप सामर्थ्य से (सूर्यः) सूर्य्य मण्डल (अजायत) उत्पन्न हुआ, (मुखात्) मुख रूप ग्राह्य शक्ति से (इन्द्रः च) समस्त ऐश्वर्य तथा (अग्निः) अग्नि उत्पन्न हुआ (प्राणात्) प्राण रूपी सामर्थ्य से (वायुः) वायु (अजायत) उत्पन्न हुआ, ऐसा जानो॥ १३॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ् शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत्।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रातथा लोकाँ अकल्पयन्॥ १४॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! जैसे इस पुरुष परमेश्वर के (नाभ्याः) अवकाश रूप मध्यम सामर्थ्य से (अन्तरिक्षम्) लोकों के मध्य का अवकाश हुआ (शीर्ष्णः) शिर के तुल्य उत्तम सामर्थ्य से (द्यौः) प्रकाश युक्त लोक हुए (पद्भचां) पृथिवी के कारण रूप सामर्थ्य से (भूमिः) पृथिवी (सम् अवर्त्तत) सम्यक् वर्तमान हुई

और (श्रोत्रात्) अवकाश रूप सामर्थ्य से (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं को (अकल्पयन्) कल्पना करते हैं (तथा) वैसे ईश्वर के सामर्थ्य से अन्य (लोकान्) लोकों को उत्पन्न हुए जानो ॥ १४ ॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधःकृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ १५ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जिस (यज्ञम्) मानस ज्ञान यज्ञ को (तन्वाना) विस्तृत करते हुए (देवः) विद्वान् लोग (पशुम्) जानने योग्य (पुरुषम्) परमात्मा को अन्तःकरण में (अबध्नन्) बाँधते हैं (अस्य) इस यज्ञ के (सप्त) सात गायत्री आदि छन्द (परिधयः) चारो ओर से सूत के सात लपेटों के समान (आसन्) हैं (त्रि सप्त) इक्कीस अर्थात् प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय और सत्व, रजस्, तमस्, तीन गुण ये (समिधः) सामग्री रूप (कृताः) किये, उस यज्ञ को यथावत् जानो ॥ १५ ॥

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवताः। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! जो (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) ज्ञानयज्ञ के द्वारा (यज्ञम्) सर्व प्रकाशक परमेश्वर की (अयजन्त) पूजा करते हैं (तानि) वे ईश्वर की पूजा रूप उपासनादि धारण रूप धर्म (प्रथमानि) अनादि रूप से मुख्य (आसन) हैं (ते) वे विद्वान् (महिमानः) महत्त्व से युक्त हुए (यत्र) जिस मुख में (पूर्व) वर्तमान से पूर्व हुए (साध्याः) धर्माचरण रूपी साधनों को किये हुए (देवाः) प्रकाशमान् विद्वान् (सन्ति) हैं, उस (नाकम्) सब दुःख रहित मुक्ति के सुख को (ह) ही (सचन्त) प्राप्त होते हैं, उसको तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥ १६ ॥

इति पुरुष सूक्तम् ॥

तदनन्तर संन्यास लेने वाला आचमन अङ्ग स्पर्श तथा न्यूनतम तीन प्राणायाम करके, हाथ जोड़ वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन करमन से—

ओम् ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ *ब्रह्म को नमस्कार है ॥ १ ॥*

ओमिन्द्राय नमः ॥ २ ॥ *इन्द्र के लिए नमस्कार है ॥ २ ॥*

ओम् सूर्य्याय नमः ॥ ३ ॥ *सूर्य के लिए नमस्कार है ॥ ३ ॥*

ओम् सोमाय नमः ॥ ४ ॥ *सोम के लिए नमस्कार है ॥ ४ ॥*

ओमात्मने नमः ॥ ५ ॥ *आत्मा को नमस्कार है ॥ ५ ॥*

ओमन्तरात्मने नमः ॥ ६ ॥ *अन्तरात्मा को नमस्कार है ॥ ६ ॥*

इन छः मन्त्रों को जप कर—

ओमात्मने स्वाहा ॥ १ ॥ *आत्मा के लिये सुहुत है ॥ १ ॥*

ओमन्तरात्मने स्वाहा ॥ २ ॥ *अन्तरात्मा के लिये सुहुत है ॥ २ ॥*

ओम् परमात्मने स्वाहा ॥ ३ ॥ *परमात्मा के लिये सुहुत है ॥ ३ ॥*

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ ४ ॥ *प्रजापति के लिये सुहुत है ॥ ४ ॥*

इन चार मन्त्रों से चार घृताहुति देकर संन्यास ग्रहण करने वाला पुरुष मधुपर्क की क्रिया करे।

कोई कार्यकर्त्ता कांस्य पात्र में पचास ग्राम गौ के दही में सोलह ग्राम मधु अथवा गौघृत मिलाकर हाथ में लेकर संन्यास लेने वाले पुरुष से कहे—

ओम् मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ओम् प्रतिगृह्णामि ॥

ऐसा कहकर संन्यास लेने वाला पुरुष कार्यकर्त्ता से मधुपर्क ग्रहण कर—

ओम् मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥ *(पार० गृ० सू० १ । ३ । १६) ॥*

इस वाक्य का उच्चारण कर मधुपर्क को अपनत्व पूर्ण दृष्टि से देखे। तथा—

ओम् देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् प्रतिगृहणामि ॥

(यजु० अ० १ । मं० १०, पार० गृ० सू० कां० १ । ३ । १७) ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर मधुपर्क के पात्र को बायें हाथ में लेवे। तथा—

ओम् भु र्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वी र्नः सन्त्वोषधी ॥ १ ॥
ओम् भू र्भुव स्वः । मधुनक्त मुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥
ओम् भू र्भुव स्वः । मधुमान्नो वनस्पति र्मधु माँ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ *(तु० यजु० अ० १३ । मं० २७—२९) ॥*

इन तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए मधुपर्क की ओर अवलोकन करके—

ओम् नमः श्यावास्या यान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥

(पार० गृ० सू० कां० १ । कं० ३ । १८) ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से तीन बार बिलोवे। और उस मधुपर्क में कुछ अमक्ष्य पड़ा होतो निकाल दे।

ओम् वसवस्त्वा गायत्रेणछन्दसा भक्षयन्तु ॥

में से इस मन्त्र से पूर्व दिशा में छींटे देवें ॥

ओम् रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा में छींटे देवें ॥

ओम् आदित्यस्त्वा जागतेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा में छींटे देवें ॥

ओम् विश्वे त्वादेवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में छींटे देवें ॥

ओम् भूतेभ्यस्त्वा परिगृहणामि ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० १। कां० २४। सू० १४, १५)॥

इस वाक्य का उच्चारण कर पात्र के मध्य भाग में से मधुपर्क लेकर तीन बार ऊपर की ओर फेंकना। तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके, तीन कांस्य पात्रों में रख, अपने सम्मुख तीनों पात्र भूमि में रख—

ओम् यन्मधुनो मधव्यं परमँ रूपमन्नाद्यम्।
तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्यो ऽन्नादो ऽसानि ॥ *(पार० गृ० सू० कां० १। कं० ३। २०)॥*

इस मन्त्र को एक-एक बार बोलकर एक कांस्य पात्र का मधुपर्क प्राशन करे। तीनों पात्रों का मधुपर्क प्राशन कर, तीन आचमन कर शुद्ध जल से मुख तथा हस्तादि पृक्षालन कर शुद्ध वस्त्र से मुखादि स्वच्छ कर अङ्गस्पर्श कर तीन प्राणायाम करे। तत्पश्चात्—

ओम् भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥

अर्थ—(भूः सावित्री०) प्राणस्वरूप, सर्वप्रकाशक, सब के उत्पन्न करने वाले सर्वश्रेष्ठ परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ ॥

ओम् भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥

अर्थ—(भुवः सावित्री०) सर्वदुःख नाशक, सर्व प्रकाशक, सबके उत्पन्न करने वाले, पापनाशक, ध्यान करने योग्य परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ।

ओम् स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो योनः प्रचोदयात् ॥

अर्थ—(स्वः सावित्रीं०) सुख स्वरूप, प्रकाशमय, हमारी बुद्धियों के प्रेरक, परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ ॥

ओम् भू र्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुवरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ॥

अर्थ—(भू र्भुवः स्वः०) प्राण स्वरूप, सर्व दुःखनाशक, सुख स्वरूप, प्रकाशमय, सब के उत्पत्ति कर्त्ता, सर्वश्रेष्ठ पाप नाशक, बुद्धि के प्रेरक परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ ॥

इन मन्त्रों का मन में जप करें।

ओमग्नये स्वाहा॥ १॥ *अग्नि के लिये सुहुत है॥ १॥*

ओम् भूः प्रजापतये स्वाहा॥ २॥

प्राण स्वरूप प्रजापति के लिये सुहुत है॥ २॥

ओमिन्द्राय स्वाहा॥ ३॥ *इन्द्र के लिये सुहुत है॥ ३॥*

ओम् प्रजापतये स्वाहा॥ ४॥ *प्रजापति के लिये सुहुत है॥ ४॥*

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ५॥

विश्वे देवों के लिये सुहुत है॥ ५॥

ओम् ब्रह्मणे स्वाहा॥ ६॥ *ब्रह्म के लिये सुहुत है॥ ६॥*

ओम् प्राणाय स्वाहा॥ ७॥ *प्राण के लिये सुहुत है॥ ७॥*

ओमपानाय स्वाहा॥ ८॥ *अपान के लिये सुहुत है॥ ८॥*

ओम् व्यानाय स्वाहा॥ ९॥ *व्यान के लिये सुहुत है॥ ९॥*

ओमुदानाय स्वाहा॥ १०॥ *उदान के लिये सुहुत है॥ १०॥*

ओम् समानाय स्वाहा॥ ११॥ *समान के लिये सुहुत है॥ ११॥*

इन मन्त्रों से वेदी में घृत की आज्याहुति देकर—

ओम् भूः स्वाहा॥ *प्राण स्वरूप परमात्मा के लिये सुहुत है॥*

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च लोकेषणायाश्चोत्त्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ *(वा० मा० शतपथ ब्रा० कां० १४, ६।४।२)॥*

अर्थ—(पुत्रैषणायाः व वित्तैषणायाः च०) पुत्रैषणा वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर जो भिक्षाचरण करते हैं॥

दाहिने हाथ में जल लेकर—

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्व भूतेभ्यो ऽभयमस्तु स्वाहा॥

अर्थ—(पुत्रैषणा०) मैं ने आज से पुत्रादि, वित्तादि तथा लोक में प्रतिष्ठादि के मोह का त्याग कर दिया है, मुझ से प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है॥

इस वाक्य का उच्चारण कर सबके सामने जल को भूमि में छोड़ देवें।

तत्पश्चात् नाभि मात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

ओम् भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥

अर्थ—(भूः सावित्रीं०) प्राण स्वरूप, प्रकाशमय, सर्वोत्पादक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ॥

ओम् भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥

अर्थ—(भुवः सावित्रीं०) सर्व दुःखनाशक प्रकाशमय पापनाशक, ध्यान करने योग्य परमात्मा में प्रवेश करता हूँ॥

ओम् स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अर्थ—(स्वः सावित्रीं०) सुखस्वरूप प्रकाशमय जो हमें बुद्धि देता है, उस परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ।

ओम् भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसे सावदोम् ॥

अर्थ—(भूर्भुवः स्वः सावित्रीं०) प्राण स्वरूप सर्व दुःखनाशक, सुख रूप, प्राकृतिक जगत् से परे जिसे "ओ३म्" कहते हैं, उस परमात्मा में प्रविष्ट होता हूँ॥

इन मन्त्रों का मन से जप करके, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके, ऐषणा त्याग परक कण्डिका को बोले।

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लाकैषणायाश्वोत्त्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्व भूतेभ्यो ऽभयमस्तु स्वाहा ॥

तत्पश्चात् संन्यास परक प्रेष्य मन्त्रोच्चारण कर--

ओम् भूः संन्यस्त मया ॥

अर्थ—(भूः संन्यस्तं मया) हे प्राणस्वरूप परमात्मा ! मेरे द्वारा संन्यास किया जाता है।

ओम् भुवः संन्यस्तं मया॥

अर्थ—(भुवः संन्यस्तं०) हे सर्व दुःखनाशक ! मेरे द्वारा संन्यास किया जाता है।

ओम् स्वः संन्यस्तं मया॥

अर्थ—(स्वः संन्यस्त मया) हे सुखस्वरूप परमात्मन् ! मेरे द्वारा संन्यास किया जाता है।

इस मन्त्र का मन में उच्चारण करें।

तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर कर, पूर्वाभिमुख होकर संन्यास लेने वाला—

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मतः स्वाहा॥

अर्थ—सब प्राणियों को मेरे से अभय प्राप्त हो।

इस मन्त्र का उच्चारण कर दोनों हाथ की अंगुलि का जल पूर्व दिशा में छोड़ देवें।

भृगुः ऋषिः। अजः पञ्चौदनो देवताः त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
येनो सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्व वेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नौ वह स्वर्देवेषु गन्तवे॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ५। १७)॥

अर्थ—हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिससे (सहस्रं) सब संसार को अग्नि धारण करता है और (येन) जिससे तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थ, मोह, यज्ञोपवीत और शिखादि को (वहसि) धारण करता है, उनको छोड़ (तेन) उनके त्याग से (नः) हमको (इमम्) वह संन्यास रूप (स्वाहा) सुख देने हारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्त्वे) जाने को (वह) प्राप्त होवे॥

इसी विषय में मनुस्मृति का प्रमाण—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व वेद सदक्षिणम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥

(मनु० अ० ६। श्लो० ३८)॥

अर्थ—(प्राजापत्यां०) प्रजापति रूप परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है, कर आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित कर के विद्वान् ब्राह्मण गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे।

इसके पश्चात् मौन रहकर शिखा के लिये रक्खे अवशिष्ट पांच वा सात केशों को क्रमश: एक-एक कर उखाड़ और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले जल की अञ्जलि भर—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(आपो वै०) प्राण स्वरूप परमात्मा ही समस्त है ॥ १ ॥

ओम् भूः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(भूः स्वाहा) प्राणस्वरूप परमात्मा ही सर्वाश्रय है ॥ २ ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल तथा यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देंवे।

उसके पश्चात् आचार्य संन्यास लेने वाले को जल से निकाल कर कुसुम्भी रङ्ग अथवा काषाय रङ्ग के वस्त्र की कौपीन, कटि वस्त्र, उपवस्त्र तथा अङ्गीछा प्रीतिपूर्वक देवे। तथा—

ओम् यो मे दण्डः परापत द्वैहायसो ऽधिभूम्याम्।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

(पा० गृ० सू० कां० २ । सू० १२) ॥

इस मन्त्र का उच्चारण कर दण्ड तथा कमण्डल धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करें।

ब्रह्मा ऋषिः। विद्या देवताः। नागी नाम त्रिपदा गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्ष परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥

(अथर्व० कां० ९ । सू० ६ । मं० १ । १ । १)

अर्थ—(यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को जाने (यस्य) जिसके (परुंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभारा) होम करने के साकल्य

और (यस्य) जिसके (ऋच:) यथार्थ सत्य भाषण, सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने योग्य वचन है, वही संन्यास करे॥ १॥

ब्रह्मा ऋषिः। विद्या देवताः। त्रिपदा ऽऽर्षी गायत्री छन्दः। धैवतः स्वरः।

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणभिद्धविः॥ २॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० २)॥

अर्थ—(यस्य) जिसके (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान (यजु:) यजुर्वेद जिसके हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है (परिस्तरणन्) जो सब ओर से शास्त्र, आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य समान है, वह संन्यास ग्रहण करने को योग्य होता है॥ २॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

यद्वा अतिथि पतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देव यजनं प्रेक्षते॥ ३॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० ३)॥

अर्थ—(वा) वा (गत्) जो (अतिथि पति:) अतिथियों का पालन करने हारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजन्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञान दृष्टि से देखता है, वही संन्यास लेने का अधिकारी होता है॥ ३॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। आर्च्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति॥ ४॥

अर्थ—और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है, वह जानो (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है वह जानो (अप:) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है॥ ४॥ (अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० ४)॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। आसुरी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः॥ ५॥

अर्थ—(यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ताः एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जल क्रिया हैं॥ ५॥ (अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० ५)॥

ब्रह्मा ऋषिः। यज्ञो देवताः। त्रिपदा साम्नी जगतीः छन्दः। निषाद स्वरः।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदो हविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति॥ ६॥

अर्थ—संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं, वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं॥ ६॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरे वतत्॥ ७॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० ८)॥

अर्थ—और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणान्ति) बिछौने आदि करते हैं (बर्हि रेत तत्) वह कुश पिञ्जूली के समान है॥ ७॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। याजुषी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति॥ ८॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६। मं० ४, २)॥

अर्थ—और जो (तेषाम्) उन (आवसन्नानाम्) समीप बैठने हारों के निकट बैठा हुआ (अतिथि) जिसकी कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है॥ ८॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। साम्नी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।

स्रुचा हस्तेन प्राणो यूपे स्रुक्कारेण वषट् कारेण॥ ९॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६ (२)। मं० ५)॥

अर्थ—और जो संन्यासी हाथ से खाता है, वह जानो (स्रुचा) चमसा आदि से यज्ञवेदी में आहुति देता है, जैसे (यूपे) यज्ञीय स्तम्भ में अनेक प्रकार के

पशु आदि को बांधते हैं, वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुवा के समान (वषट्कारेण) होम क्रिया के तुल्य (प्राण) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है॥ ९॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। आर्च्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

एते वै प्रियाश्चा प्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥ १०॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६ (२)। मं० ६)॥

अर्थ—(एते वै) ये ही ऋत्विज समय-समय में प्राप्त होने वाले (प्रिया च अप्रिया च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथि रूप हैं, इससे गृहस्थ को (स्वर्ग लोकं) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं॥ १०॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। भुरिक् साम्नी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति॥ ११॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६ (२)मं० ११)॥

अर्थ—(एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्राजापत्य यज्ञ रूप परमात्मा जानने का आश्रम धर्मानुष्ठान रूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यति धर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् जो इसको सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है (वै) वही संन्यासी होता है॥ ११॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति॥ १२॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६ (२)। मं० १२)॥

अर्थ—(यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापते) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है (वै) वही सब शुभ गुणों को (उपहरति) स्वीकार करता है॥ १२॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। त्रिपदा ऽऽर्ची पङ्क्ति छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥

(अथर्वं० कां० ९। सू० ६ (२)। मं० १३) ॥

अर्थ—(यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है (सः) वह संन्यासी के लिये (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है (सः) वह उसके लिये (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी मार्हपत्य अग्नि है, और संन्यासी (यस्मिन्) जिस जठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी दक्षिणा है, इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करें ॥ १३ ॥

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिः देवताः। त्रिपदापिपीलिकमध्या गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ १४ ॥

(अथर्व० कां० ९। सू० ६ (३)। मं० १) ॥

अर्थ—(यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है (एषः) वह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और सामग्री (पूर्त्तम्) तथा ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उसके साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है। इसलिये जिस गृहस्थ के समीप संन्यासी रूप अतिथि उपस्थित होवे, उसको पूर्व भोजन करा कर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥ १४ ॥

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हि वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता, दक्षिणा वाग्धोता प्राण, उद्‌गाता चक्षुरध्वर्युमनो, ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत।

अर्थ—(एवम्) इस प्रकार संन्यास किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रम रूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वत्व रूप है, और जो ईश्वर, वेद और

सत्यधर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारण रूप दृढ़ प्रीति है, वह उसकी (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है, वह (इध्मम्) यज्ञ के लिये इन्धन है, और जो उसका (उरः) वक्षस्थल है वह (वेदिः) यज्ञ कुण्ड और जो उसके शरीर पर (लोमानि) लोम हैं वे (बर्हिः) कुशा हैं और जो (वेदः) वेद और उसका शब्दार्थ सम्बन्ध जानकर आचरण करना है वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है, वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इसके शरीर में (कामः) काम है वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का घृत रूपी पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है वह (पशुः) निवृत करने अर्थात् शरीर के मलवत् त्यागने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान रूप प्राणायामादि योगाभ्यास करता है वह (अग्निः) मानो यज्ञीय वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोकर धर्माचरण में स्थिर रखके चलाता है वह (शमयिता) जानों दुष्टों को दण्ड देने वाला सभ्य है और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिए वाणी है, वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) दक्षिणा रूप अभय दान देना है, जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण हैं, वह (होता) होता के समान जो (चक्षुः) नेत्र हैं वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह अध्वर्यु के समान, जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र हैं वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लाने वाले के तुल्य हैं॥

यावद्ध्रियते सा दीक्षा, यदश्नाति तद्धविर्यत्पिवति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदो, यत्सञ्चरतुपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति, यत्सायं प्रातरत्ति तत् समिधं, यत्प्रातर्मध्यन्दिनँ सायं च तानि सवनानि।

अर्थ—(यावद् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है (सा) वह (दीक्षा) संन्यास की दीक्षा ग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान है (यत्पिवति) और जो वह जल दुग्धादि पीता है (तदस्य) इसका (सोमपानम्) सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर उधर भ्रमण करता है (तदुपसदः) वह उपसद, उपसामग्री (यत्सञ्चरत्युपविशत्युतिष्ठते) जो वह गमन करता, बैठता और उठता है (स

प्रवर्ग्यः) वह इसका प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इसका मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी की आहवनीय अग्नि के समान (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुति रूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है (यत्सायं प्रात रत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं (यत्प्रातमध्यन्दिन ँ सायं च) जो संन्यासी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है, (तानि सवनानि) वे तीन सवन हैं।

ये अहोरात्र ते दर्शपौर्णमासौ, येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा, ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च ते अहर्गणाः, सर्ववेदसं ता एतत्सत्रं, यन्मरणं तदवभृथः, एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्र ँ सत्रं, य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वा ऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं स लोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्या चन्द्र मसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभि जयति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्यु पनिषत्॥

(तै० आ० प्रपा० १०। अनु० ६४)॥

अर्थ—(ये अहोरात्रे) जो दिन रात्रि हैं (ते दर्शपौणमासौ) वे संन्यासी के दर्शेष्टि ता पौर्णमास्येष्टि हैं (ये अर्द्धमासाश्च मासाश्च) जो कृष्ण शुक्ल पक्ष और महीने हैं (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं (ये ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् छः पशुओं का बांधना, रखना है, (ये सम्वत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो सम्वत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण दो रात्रि या तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्रादि पूर्वाश्रम चिह्नों का त्याग करना है (एतत् सत्रम्) यह सब से बड़ा यज्ञ है। (यन्मरणं) जो संन्यासी का मृत्यु है (तदवभृथः) वह उसका अवभृथ स्नान है (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्र ँ सत्रम्) यही जरातस्या और मृत्यु पर्यन्त अर्थात् यावद् जीवन है तावत्सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है (य एवम् विद्वानुदगयने) जो इस प्रकार विद्वान्

संन्यास ग्रहण कर विज्ञान योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है, वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा के सङ्ग को प्राप्त होता है, और जो योग विज्ञान से रहित है, सो सांसारिक दक्षिणायन रूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः पुनः माता पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा के समान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है, वह उससे परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय पर्यन्त मोक्ष सुख को भोगता है।

अथ संन्यास विषये पुनः प्रमाणानि—

संन्यास विषय में पुनः प्रमाण—

न्यासइत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्। ब्रह्माविश्वः कतमः स्यम्भूः प्रजापतिः सम्वत्सर इति। संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठ ब्रह्मात्मा। याभि रादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधि वनस्पतयः प्रजायन्त, ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृति ँ स्मृत्या स्मार ँ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति, तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः।

अर्थ—(न्यास इत्याहर्मनीषणः०) न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कथित है, उस रीति से जो संन्यासी होता है, वह परमात्मा का उपासक है। यह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है, कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है। उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी, वनस्पति की उत्पत्ति, उससे अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उससे श्रद्धा सत्यधारण में प्रीति, उससे बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उससे ज्ञान, उससे शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान

उससे शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान उससे विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है। इसलिए अन्नदान श्रेष्ठ जिससे प्राण बल विज्ञान तथा आनन्दादि होते हैं।

स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तर दिशश्च, स वै सर्वमिदं जगत् स भूत ँ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महत्वाँस्तमसो वरिष्ठात्। ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युपयाहि विद्वान्। तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः। वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मँस्त्वमसि विश्वसृत्तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि, वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे। ओमित्यात्मानं युञ्जीत। एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम्। य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्॥ *(तैत्ति० आर० प्रपा० १० । अनु० ३३)॥*

अर्थ—जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सर्व जगत् ओत प्रोत व्याप्त हो रहा है। वह सब जगत् कर्त्ता, वही पूर्व कल्प और उत्तर कल्प में भी जगत् को बनाता है। उसके जानने की इच्छा से, उसको जानकर हे संन्यासिन् ! तू पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति से पूर्ण सुख को प्राप्त हो। इसलिये सब तपों का तप, सबसे पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं। हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सब का सन्धान करने हारा, विश्व का स्रष्टा, धर्त्ता, सूर्य्यादि को तेजदाता है। तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है। वह सब से बड़ा पूजनीय देव है। "ओ३म्" इस मन्त्र का मन से उच्चारण करके परमात्मा में आत्मा को युक्त करें। जो इस विद्वानों की ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है, वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः। ईश्वरो देवताः। भुरिग् बृहती छन्दः। निषादः स्वरः॥

दृते दृँ॒ह मा मित्रस्य॑ मा चक्षु॑षा सर्वा॑णि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षु॑षा सर्वा॑णि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षु॑षा समी॑क्षा महे॥ १॥ *(यजु० अ० ३६। मं० १८)॥*

अर्थ—हे (दृते) सर्वदुःख विद परमात्मन् ! तू (मा) मुझको संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा। हे सर्व मित्र ! तू (मित्रस्य) सर्व सुहृद आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझको सब का मित्र बना जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समीक्षान्ताम्) देखें और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (समीक्षे) देखूं। इस प्रकार आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सहृदभाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें॥ १॥

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवताः। निचृत्त्रिष्टुप छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ राये ऽअस्मान्। विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि विद्वान्।
युयो॒ध्य॑स्मज्जु॑हुराण मेनो। भूयि॑ष्ठान्ते नम ऽउक्ति॑ विधेम॥ २॥

(यजु० अ० ४०। मं० १६)॥

अर्थ—हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग विज्ञान रूप धन की प्राप्ति के लिये (सुपथा) वेदोक्त धर्म मार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) अपनी कृपा से प्राप्त कीजिए, और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पाप रूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए, इस कारण हम लोग (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रता पूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें, और सर्वदा आनन्द में रहें॥ २॥

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्ने वानु पश्येति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ ३॥

(यजु० अ० ४० । मं० ६)॥

अर्थ—(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण प्राणी और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है (च) और (सर्व भूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी और अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, तथा सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य प्राणीमात्र को हानि लाभ सुख दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास धर्म को प्राप्त होता है॥ ३॥

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मै वाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुश्यतः॥ ४॥

(यजु० अ० ४० । मं० ७)॥

अर्थ—(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) पक्षपात रहित धर्म युक्त संन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणीमात्र को (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना चाहिये अर्थात् जैसा अपनी आत्मा स्वयं को प्रिय है उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वम् अनुपश्चतः) सब प्राणियों में आत्मा के एक भाव को देखने वाले संन्यासी को (को मोहः) कौन-सा मोह और (कः शोकः) कौन-सा शोक होता है, अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न कभी शोक होता है, इसलिये संन्यासी मोह शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सबका उपकार करता रहे॥ ४॥

स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवताः। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

परीत्यं भूतानिं परीत्यं लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ ५॥

(यजु० अ० ३२। मं० ११)

अर्थ—इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोगों में (परीत्य) और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होकर स्थित है (ऋतस्य) सत्य कारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) अपनी आत्मा के द्वारा (अस्थाय) समीप स्थिर होकर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधि योग से प्रवेश किया करे॥ ५॥

दीर्घतमा ऋषिः। विश्वे देवाः देवताः। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ऋचो अक्षरें परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वें निषेदुः।
यस्तन्न वेद किं मृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ६॥

(ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ३९)

अर्थ—हे संन्यासी लोगो (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत व्यापक (अक्षरे) नाश रहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख व लाभ कर लेगा, अर्थात विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता, और विद्या पढ़ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है, वह मनुष्य शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को जानते हैं (ते इमे इत्) वे ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधि योग से स्थिर होते हैं॥ ६॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशित स्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ ७॥

(मैत्रायणी उपनिषद् ४। ९)

अर्थ—(समाधि निर्धूत मलस्य) समाधि योग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम नशक्यते) कहा नहीं जा सकता क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तः करणेन) शुद्धान्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्ण रीति से कभी नहीं आ सकता। इसलिये संन्यासी लोग परमात्मा में ही सदा स्थित रहें, और उसकी, आज्ञा अर्थात् पक्षपात रहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश द्वारा सत्य विद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुँचाता रहे॥ ७॥

संमानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ १॥

(मनु० अ० २। श्लोक १६२)

अर्थ—(संमानात् ब्राह्मणः०) संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्यं डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे॥ १॥

यमान् सेवेत सततं न नियमान केवलान् बुधः।
यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान केवलान् भजन्॥ २॥

(मनु० अ० ४। श्लोक ५९)

अर्थ—(यमान् सेवेत०) विद्वान् व्यक्ति को यमों का सदा सेवन करना चाहिए। केवल नियमों का सेवन करना उचित नहीं। यमों का पालन किये बिना केवल नियमों का जो पालन करता है, वह पतित हो जाता है॥ २॥

जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है, इसलिये चाहे निन्दा हो, चाहे प्रशंसा चाहे

जीना हो, चाहे मृत्यु, चाहे हानि हो, चाहे लाभ, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे बैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने।

परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेद विरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने और आप सदा सेवक बना रहे, वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े, उस-उस का उपदेश करे।

जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबिल, कुरान, पुराण मिथ्यालाप तथा काव्यालङ्कार कि जिनके पढ़ने सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सब का निषेध करता रहे। विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास सत्सङ्ग और सत्य भाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ, और विद्वानों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने, न मनवावे। वैसे गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिये पति, पुरुष के लिये पत्नी से भिन्न, किसी भी जड़ प्रतिमा को पूज्य न समझावे। किन्तु वैदिक मत की उन्नति और वेद विरुद्ध पाखण्ड मतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहें।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा ओर तद्विरुद्ध मतों वा ग्रन्थों में अश्रद्धा किया कराया करे। आप शुभ गुण कर्म तथा स्वभाव युक्त होकर, सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे, और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं, उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करें। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म मानने वालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव और न्याय आदि गुणों का

प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खे।

सर्वदा अहिंसा अर्थात् निर्वैरता, सत्य अर्थात् सत्य बोलना, सत्य मानना तथा सत्य करना, अस्तेयम् अर्थात् मन, वचन, कर्म से अन्याय के द्वारा पराये पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिए, न किसी को ऐसा करने का उपदेश करे, ब्रह्मचर्य अर्थात् सदा जितेन्द्रित होकर, आठ प्रकार के मैथुनों का त्याग कर, वीर्य की रक्षा और उन्नति करके, चिरञ्जीवी होकर, सब का उपकार करता रहे, अपरिग्रह अर्थात् अभिमानादि दोष रहित, संसार के किसी धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे। इन पांच यमों का सेवन सदा किया करे, और इनके साथ पांच नियम, शौच अर्थात् बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि, सन्तोष अर्थात् पुरुशार्थ करते जाना तथा हानि लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना, तप अर्थात् सदा पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म का सेवन, प्राणायामादि योगाभ्यास करना, स्वाध्याय अर्थात् सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना, ईश्वर प्रणिधान अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमेश्वर के परमानन्द व सुख को जीवित ही भोगकर शरीर त्यागने पर सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

हे जगदीश्वर सर्वशक्तिमन् सर्वान्तर्यामिन् दयालो न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अजर अमर पवित्र परमात्मन्! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में युक्त कर परम मुक्ति सुख को प्राप्त कराते रहिये।

जगत् की उत्पत्ति के तीन कारण तथा पांच पदार्थ—

१. निमित्त कारण परमात्मा।

२. साधारण निमित्त कारण जीवात्मा।

३. उपादान कारण प्रकृति, काल तथा आकाश।

१. **ईश्वर**—चेतनस्वरूप, निराकार, सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी सच्चिदानन्द तथा नित्य पदार्थ है।

२. **जीव**—चेतन स्वरूप, नित्य, अल्प, अल्पज्ञ, एकदेशीय तथा परिछिन्न है। जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो एक परमाणु में भी रह सकता है। जीवात्मा निराकार नहीं है। जीवात्मा अल्प आनन्द युक्त है।

३. **प्रकृति**—नित्य, जड़ तथा सर्वथा निराकार नहीं है।

४. **आकाश**—नित्य, जड़ तथा व्यापक अर्थात् विभु है।

५. **काल**—नित्य, जड़ तथा व्यापक है।

"उस अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।"

पतञ्जलि प्रोक्त योग दर्शन के अनुसार उपासना परक योग दो प्रकार है।

१. भव प्रत्यय, २. विराम प्रत्यय।

इति संन्यास प्रकरणम्

अन्त्येष्टि कर्म विधिः।

अन्त्येष्टि कर्म उसको कहते हैं जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है, इसी को नरमेध पुरुष मेध, नर याग तथा पुरुष याग भी कहते हैं।

भष्मान्तँ्शरीरम्॥

यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥ १ ॥

इस शरीर का संस्कार भस्मान्तम् अर्थात् शरीर के भष्म होने पर्यन्त है॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रै र्यस्योदितो विधिः ॥ २ ॥

मनु० २ । १६ ॥

शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है जिस कर्म की वेद मन्त्रों में विधि प्रोक्त है॥

प्रश्न—जो गरुड़ पुराण, आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक तथा वार्षिक श्राद्ध एवम् गया श्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं, क्या ये सब असत्य और मिथ्या हैं?

उत्तर—हाँ अवश्य असत्य और सर्वथा मिथ्या हैं। क्योंकि वेदों में उपर्युक्त कर्मों का विधान नहीं है, इसलिए सब अकर्त्तव्य हैं। शरीर त्यागने के पश्चात् मृतक के जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता है और न जीवित सम्बन्धियों का! वह जीव अपने कर्मानुसार यथोचित समय पर जन्म लेता है।

प्रश्न—मरण के उपरान्त मृतक का जीव कहाँ जाता है?

उत्तर—जीवात्मा की दो नैमित्तिक अवस्थाऐं हैं, मुक्त तथा बद्ध। मरण के पश्चात् मुक्त जीव इकत्तीस नील दश खरब चालीस अरब वर्ष पर्यन्त परमात्मा के आनन्द में निमग्न रहकर अव्याहत गति से स्वच्छन्द सर्वत्र विचरण कर अपने पूर्व अवशिष्ट कर्मानुसार जन्म लेता है। मरण के पश्चात् मृतक का बद्ध जीव शरीर त्यागने के पश्चात् यजुर्वेद के अन्तालीसवें अध्याय के छठे मन्त्र के अनुसार कम से कम बारह दिन के पश्चात् गर्भ में आता है तथा अधिक

से अधिक समय का लगना सब जीवों के कर्मानुसार पृथक्-पृथक् होता है। मरण के पश्चात् मृतक का बद्ध जीव यमालय को जाता है।

प्रश्न—यमालय किसको कहते हैं?

उत्तर—वाय्वालय को।

प्रश्न—वाय्वालय किसको कहते हैं?

उत्तर—अन्तरिक्ष को जो कि यह पोल है।

प्रश्न—क्या गरुड़ पुराण आदि में जो यमलोक लिखा है, वह मिथ्या है?

उत्तर—अवश्य सर्वथा मिथ्या है।

प्रश्न—पुनः संसार इसे क्यों मानता है?

उत्तर—वेद विद्या के अभाव और वेद का उपदेश न होने से अज्ञान के कारण गरुड़ पुराण तथा यमलोक विषयक मिथ्या धारणाओं को मानते हैं जो सर्वथा मिथ्या हैं क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम है—

षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ॥ १ ॥

(ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० १५)॥

यहाँ ऋतुओं का नाम यम है॥ १॥

शकेम वाजिनो यमम्॥ २॥ *(ऋ० मं० २ । सू० ५ । मं० १)॥*

यहाँ परमेश्वर का नाम यम है॥ २॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ ३॥

(ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १३)॥

यहाँ अग्नि का नाम यम है॥ ३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूय मानः॥ ४॥

(य० अ० ८ । मं० ५७)॥

यहाँ वायु, विद्युत्, तथा सूर्य के यम नाम हैं॥ ४॥

वाजिनं यमम्॥ ५॥ *(ऋ० मं० ८ । सू० २४ । मं० २२)॥*

यहाँ भी वेगवान होने से वायु का नाम यम है॥ ५॥

यमं मातारिश्वानमाहु ॥ ६ ॥ *(ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४६)*

यहाँ परमेश्वर का नाम यम है ॥ ६ ॥

इत्यादि अनेक पदार्थों का नाम यम है, इसलिये गरुड़ पुराणादि की सब कल्पना सर्वथा मिथ्या है।

विधिः—

संस्थिते भूमि भागं खानयेद्दक्षिण पूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्या वा ॥ १ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० १ । सू० ६)

अर्थ—(संस्थिते) मर जाने पर (भूमि भागं खानयेत्) भूमि के एक स्थान को खुदवावे (दक्षिणपूर्वस्याम् दिशि) दक्षिण पूर्व दिशा अर्थात् आग्नेयी दिशा में (दक्षिण परस्यां वा) अथवा दक्षिण पश्चिम दिशा अर्थात् नैऋती दिशा में ॥ १ ॥

दक्षिणा प्रवणं प्राग्दक्षिणा प्रवण वा प्रत्यादक्षिणा प्रवणामित्येके ॥ २ ॥ *(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० १ । सू० ७)*

अर्थ—(दक्षिणा प्रवणाम्) दक्षिण दिशा की ओर जो गढ़ा खोदा जाए वह (प्राग्दक्षिणा प्रवणाम्) दक्षिण दिशा के पूर्व की ओर झुका हुआ हो (वा) अथवा (प्रत्याग्दक्षिणा प्रवणाम्) नैऋत्य दिशा की ओर झुआ हुआ हो ॥ २ ॥

यावानुद्बाहुकः पुरुषरतावदायामम् ॥ ३ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० १ । सू० ८)

अर्थ—(यावान् उद्बाहुकः पुरुषः) जितने परिमाण में भुजा ऊपर उठाने पर मनुष्य होता है (तावद् आयामम्) उतने परिमाण में गढ़ी लम्बा होना चाहिये ॥ ३ ॥

व्याममात्रं तिर्यक ॥ ४ ॥ *(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० १ । ९)*

अर्थ—व्याम मात्र तिरछी हो ॥ ४ ॥

वितस्त्यर्वाक् ॥ ५ ॥ *(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० १ । सू० १०)*

अर्थ—वितस्तिमात्र अर्थात् बारह अङ्गुल नीचे खुदना चाहिये अर्थात् गहरा होना चाहिए ॥ ५ ॥

केशश्मश्रुलोम नखनी त्युक्तं पुरस्तात् ॥ ६ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४। कं० १५-१७) ॥

अर्थ—(पुरस्तात् इति उक्तम्) पूर्व यह कह चुके हैं, कि (केश श्मश्रु नख लोमानि) शिर बाल, दाढ़र, मूंछ, नख और रोम, मृतक के कटवा देने चाहिये।

द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥ ७ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४। कं० १। सू० ९) ॥

अर्थ—(द्विगुल्फं) बहुत (बर्हि, आज्यम्) कुशा तथा घृत इसमें होना चाहिए ॥ ७ ॥

दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥ ८ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४। कं० २। १)

अर्थ—(अत्र) इस प्रेत कर्ज में (दधीन्) दही में (सर्पिः) घृत को (आनयन्ति) मिला कर लाते हैं, आहुति देने के लिये, (पृषदाज्यम्) पृषदाज्यम् नामक (एतत् पित्र्यम्) पितृ सम्बन्धि कर्म है ॥ ८ ॥

अथैतां दिशमाग्नीत्रयन्ति यज्ञ पात्राणि च ॥ ९ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४। कं० २। सू० २)

अर्थ—(अथ) फिर (एताम् दिश्) उस दक्षिण दिशा की ओर (अग्नीन्, नयन्ति) अग्नि ले जाते हैं (यज्ञ पात्राणि च) और यज्ञ पात्र भी ले जाने चाहिये ॥ ९ ॥

जब कोई मर जाए तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां मृतक को स्नान करावें। चन्दनादि सुगन्ध लेपन कर नवीन वस्त्र धारण करावें। मृतक के शरीर का जितना भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक घृत लेवे और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं हो उसको कोई श्रीमान् व पंच बन के आध मन से कम घी न देवे और श्रीमान् लोग शरीर के भार के बराबर तोल के चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती के अनुसार कस्तूरी तथा एक मासा केशर, एक-एक मन घी के साथ सेर-सेर भर अगर तगर डालें। घृत में श्वेत चन्दन का चूर्ण भी यथा शक्ति डाल, कपूर पलाशादि के पूर्ण काष्ठादि शरीर के भार से दूनी सामग्री श्मशान मे

पहुँचावें तत्पश्चात् मृतक को श्मशान में ले जायें। श्मशान में यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो भूमि में नवीन वेदी खोदे। श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैऋत्य दिशा में हो, वहाँ भूमि को खोदे। मृतक के पैर दक्षिण नैऋत्य अथवा आग्नेय दिशा में रहे, शिर उत्तर पूर्व अथवा उत्तर पश्चिम अर्थात् वायव्य दिशा में रहे॥ १॥

मृतक के पैर की ओर तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊँचा रहे॥ २॥

उस वेदी का परिमाण, पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ से ऊपर चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे॥ ३॥

और नीचे आधा हाथ अर्थात् एक बीता रहे॥ ४॥

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिड़कावे। यदि गोमय उपलब्ध हो तो लेपन भी कर दे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियां चिने, जैसे कि भित्ती में इटें चिनी जाती हैं अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियां रक्खें। लकड़ियों के बीच में थोड़ा-थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खें। उसके ऊपर मध्य में मृतक के शव को रक्खे, चारो ओर वेदी बराबर खाली रहे, चारो ओर ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने। वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियां चिने।

जब तक यह क्रिया सम्पन्न होवे तब तक पृथक् चूल्हा बना, अग्नि जला, उस पर घृत तपा और छान कर पात्रों में रक्खे, उसमें केशर कस्तूरी आदि पदार्थ मिलावे। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों अथवा सोने-चाँदी के वा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटांक भर से अधिक और न्यून घृत न आवे खूब दृढ़ बन्धनों से डंडों के साथ बांधे।

तत्पश्चात् घृत का दीपक जला उससे कपूर प्रज्ज्वलित कर शिर से आरम्भ कर पाद पर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि प्रवेश करावे। अग्नि प्रवेश कराके—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० ३ । सू० २५-२६)

अर्थ—(अग्नये) अग्नि के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ २ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । कं० ३ । सू० २५, २६)

अर्थ—(सोमाय स्वाहा) सोम के लिये सुहुत है ॥ २ ॥

ओम् लोकाय स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—लोक के लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—अनुकूल मति के लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

ओम् स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ ५ ॥

(आश्वला० गृ० सू० अ० ४ । ३ । २५, २६)

अर्थ—सुख सम्पन्न स्थिति के लिये सुहुत है ॥ ५ ॥

इन पाँच मन्त्रों से घृताहुति देकर अग्नि को प्रदीप्त होने दे । तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रह कर वेदों के मन्त्रों से आरम्भ में ओम् तथा अन्त में स्वाहा लगा कर आहुति दें ।

दमनो यामा यमः ऋषिः । अग्नि र्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हित मोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१ ॥ *(ऋ० मं० १० । १६ । ३)*

अर्थ—हे जीव ! (धर्मणा) स्वकृत कर्मानुकूल (चक्षुः) तेरे नेत्र (सूर्यम् गच्छतु) सूर्य को प्राप्त हों (आत्मा) प्राण (गतम्) वायु को प्राप्त हों (द्यां च गच्छ) तथा तू अन्तरिक्ष में जा (पृथिवीं च धर्मणा) अथवा अपने कर्मानुसार पृथिवी को प्राप्त हो अथवा (अपः गच्छ) जलों को प्राप्त हो (यदि तत्र) जो वहाँ (ते हितम्)

तेरे कर्मानुसार (शरीरैः) शरीर को ग्रहण कर (ओषधीषु) ओषधियों में (प्रतिष्ठ) स्थित हो। इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

दमनो यामा यमः ऋषिः। अग्नि र्देवता। निचृद् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

ओम् अजोभागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्तेशिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृताम् लोकं स्वाहा ॥ २ ॥

(ऋ० १० । १६ । ४)

अर्थ—हे जीव ! (भागः) शरीरादि से विलक्षण स्वरूप तू (अजः) अजन्मा तथा नित्य है (तम्) उस अपने स्वरूप को तू (तपसा) अध्ययन तथा दानादि रूप तप से (तपस्व) ईश्वर कृपा से तप के द्वारा उन्नत करे (ते) तेरे (तम्) उस जीव रूप को (अर्चिः) परमात्मा प्रकाशित करें हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् (ते) आपके आधीन (याः) जो (शिवाः तन्वः) कल्याणकारक स्वभाव से युक्त मनुष्य हैं (ताभिः) उन्हीं से (एनम्) इस मृतक के जीव को (वह) मनुष्य योनि ही दे (उ) और (सुकृताम् लोकम्) पुण्यात्माओं के शरीर को इसे प्राप्त करा। इसके लिये सुहुत है ॥ २ ॥

दमनो यामा यमः ऋषिः। अग्नि र्देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

ओम् अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छता तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥ ३ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ५)

अर्थ—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (यः) यह जो शरीर (आहुतः) चिता में रक्खा हुआ है और (स्वधाभिः) घृतादि हवनीय पदार्थों से (चरति) व्याप्त हो रहा है, उस जीव की (अव) रक्षां कर और (पितृभ्यः) माता पितादि पितृ जनों की सेवा के लिये (पुनः सृज) पुनः शरीर धारण करा (शेषः) शरीर के नष्ट हो जाने पर यह अवशिष्ट (आयुर्वसाः) आयु को धारण करता हुआ (उपवेतु) हमारे समीप प्राप्त हो (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थ मात्र के ज्ञाता ! आपकी कृपा से (तन्वा)

सुन्दर शरीर के साथ यह जीव (सम् गच्छताम्) संयुक्त हो। इसके लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

दमनो यामा यमः ऋषिः। अग्नि र्देवता। निचृद् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

ओम् अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्व सम्प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वाधृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥ ४ ॥

(ऋ० मं० १० । सू० १६ । मं० ७)

अर्थ—हे जीव ! अपने (वर्म) शरीर रूपी कवच को (गोभिः) गोघृतादि पदार्थों के साथ (अग्निः) अग्नि से (परि व्ययस्व) सब ओर से भष्म कर पुनर्जन्म में (पीवसा मेदसा) स्थूल मांसादि एवम् मज्जा आदि से स्वयं को (सम् प्र ऊर्णस्व) भली भांति ढक नहीं तो (त्वा) तुझे (हरस धृष्णुः) अपने तेज से दबाने वाला (अर्हषाणः) घृतादि से पुनः पुनः प्रसन्न होने वाला (दधृक्) प्रगल्भ (वि थक्ष्यम्) विशेष कर जलाने वाला यह अग्नि, तेरे शरीर को (परि अङ्खयाते) बहुत बार प्राप्त होगा अर्थात् यदि तू सत्कर्मों से मुक्त न हुआ तो बार-बार जन्म मरण को प्राप्त होगा।इसके लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

दमनो यामा यमः ऋषिः। अग्नि र्देवता। विराटनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

ओम् यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्ब्वत्रं रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) अग्ने (त्वम्) तूने (यम्) जिस शरीर को (सम् अदहः) भली भांति जला दिया है (तम् उ) उसी शरीर को (पुनः) फिर (निर्वाण्य) शांतकर अर्थात् परिमित अग्नि जलाना चाहिये जो नियत समय में शरीर को जलाकर भष्म कर दे (अत्र) इस स्थान में (कियाम्बु) कुछ जल (रोहतु) उत्पन्न हो और (व्यल्कशा पाकदूर्वा) विविध शाखा वाली पकी हुई दूब पैदा हो ॥ ५ ॥ (ऋ० म० १० । सू० १६ । मं० १३)

दमनो यामा यमः ऋषिः। अग्नि र्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

ओम् परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥ ६ ॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० १)

अर्थ—हे जीव ! (प्रवत) धर्मात्माओं को (महीः) सुख सम्पन्न भोग युक्त प्रदेशों में (अनु परेयिवांसम) क्रम से मरणान्तर प्राप्त कराने वाले (बहुभ्यः) बहुत से सुखार्थियों के लिये (पन्थाम्) सन्मार्ग को (अनु पस्पशानम्) बताने वाले (यमम्) जन्म मरणादि द्वारा संयम रखने वाले (जनानाम् राजानम्) सब मनुष्यों के राजा को, जिससे कि (वैवस्वतम् संगमनम्) सूर्यादि की गति अच्छी तरह होती रहती है, उसकी (हविषा) पुरोडाशादि पदार्थों से (दुवस्य) आज्ञा पालन रूप सेवा किया कर, इसके लिये सुहुत है ॥ ६ ॥

यमः ऋषिः । यमो देवताः । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनुस्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० २)

अर्थ—(प्रथमः) सब में मुख्य (यमः) नियामक परमात्मा (नः) हम प्रजाओं के (गातुम्) शुभाशुभ कर्मों को (वि वेद) जानता है, अतिशय ज्ञान के सम्बन्ध से परमात्मा का (एषा व्यूतिः) शुभाशुभ कर्म जानने का यह मार्ग (न अप भतवै उ) किसी से भी नहीं हटाया जा सकता (यत्र) जिस ईश्वर निर्दिष्ट मार्ग में (नः) हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व के पितृगण (परेयुः) गये हैं (एना) इसी मार्ग से (जज्ञानाः) उत्पन्न हुए (पथ्या स्वाः) अपने अपने अनुकूल कर्मफलों को (अनु) पीछे से प्राप्त होतें हैं इसलिये यह सुहुत है ॥ ७ ॥

यमः ऋषिः । यमो देवताः । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पति ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥ ८ ॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० ३)

अर्थ—हे जीव ! (मातली) समृद्धिशाली पुरुष जैसे (कव्यैः) घृतादि रसमय पदार्थों से (यमः) वायुमण्डल को (अङ्गिरोभिः) अग्नि के द्वारा (बृहस्पतिः) आकाश

को (ऋक्वभिः) ऋचाओं के द्वारा (वावृधानः) शुद्ध करते हैं (ये च देवान्) और जो देवताओं को (स्वाहा) उत्तम पदार्थों के सुहुत से सन्तुष्ट करते हैं (अन्ये च) और दूसरे पितृगणों को (स्वधया) अन्न वस्त्र तथा धनादि के माधुर्यमय दान से (मदन्ति) आनन्दित करते हैं।इसलिये सुहुत है॥ ८॥

यमः ऋषिः। यमो देवताः। विराट त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कवि शस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा॥ ९॥

(ऋ० म० १०। सू० १४। मं० ४)

अर्थ—(इमं यमं) यह जीव वायव्यालय से (हि) निश्चित रूप से (इयं प्रस्तरं) इस विस्तृत संसार को (आसीद्) पुनः प्राप्त हो (अङ्गिरोभिः) अग्नि को प्राप्त हुए (पितृभिः) पूर्व पुरुषों के साथ (संविदानः) रह (कविशास्ता मन्त्राः) वेद मन्त्रों के द्वारा प्रशस्त क्रव्याग्नि (आ वहन्तु) भली भांति इसे ले जाए (राजन् एना हविषा) शोभन् यह हविष्य तुझे (मादयस्व) आनन्दित करे॥ इसके लिये सुहुत है॥ ९॥

यमः ऋषिः। यमो देवताः। पाद निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपै रिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता ऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा॥ १०॥

(ऋ० म० १०। सू० १४। मं० ५)॥

अर्थ—हे (यमः) संयमी जीव! तू पुनः (इह) इस संसार में (यज्ञियेभिः) यज्ञोपयोगी (अङ्गिरोभिः) प्राण विद्या से सम्पन्न (विरूपैः) विविध प्रकार के पदार्थों के साथ (आ गहि) सम्पन्न होकर आ तथा (मादयस्व) सब को आह्लादित कर (यः ते पिता) यह जो तेरा पालक (विवस्वन्तम्) सूर्यवत् तेजस्वी परमात्मा (अस्मिन् बर्हिषि यज्ञे) इस कुश युक्त यज्ञ के होते हुए (आ निषद्य) स्मृत्यारूढ होकर हमें आनन्द प्रदान करें॥ १०॥

यमः ऋषिः। पितरो देवताः। निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।

उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥ ११ ॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० ७)

अर्थ—(यत्र) जहाँ हमारे (पूर्वे पितरः) पूर्व पिता पितामहादि पित्रगण (पूर्वेभिः पथिभिः) पूर्व गन्तव्य मार्गों से गये हैं हे जीव ! (प्रेहि, प्रेहि) उसी स्थान को तू जा और (उभया राजाना) दोनों प्रकाशमान (स्वधया मदन्ता) स्वधा अर्थात् उत्तम अन्नादि के दान से प्रसन्न होने वाले (यमम्) यम अर्थात् परमात्मा (च) तथा (वरुणाम् देवम्) पवित्र आत्मरूप को (पश्यासि) देखे। इसके लिये सुहुत है ॥ ११ ॥

यमः ऋषिः। पितरो देवताः। आर्चास्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

ओम् सं गच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥ १२ ॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० ८)

अर्थ—हे जीव ! (अवद्यम्) पाप को (हित्वा) त्याग कर अपने कर्मानुकूल (पुनः) पुनः (अस्तम् एहि) इस संसार में आ (पितृभिः) माता पिताओं के साथ (संगच्छस्व) रहकर (सं यमेन) इन्द्रियों के संयम तथा (इष्टा पूर्तेन) यज्ञ और परोपकार परायण कर्मों के द्वारा (परमे व्योमन्) विशेष उत्कृष्ट स्थान में स्थित हो (सुवर्चाः तन्वा) सुन्दर रूपवान शरीर से (संगच्छस्व) सम्पन्न हो। इसलिये सुहुत है॥ १२ ॥

यमः ऋषिः। पितरो देवताः। पाद निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

ओम् अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
भिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्य वसान मस्मैस्वाहा ॥ १३ ॥

ऋ०मं० १० ।सू० १४ ।मं० ९ ॥

अर्थ—हे श्मशान में आये हुए पुरुषो ! (अप इत) तुम यहाँ से हट जाओ (वीत) विशेष कर चले जाओ (वि सर्पत च) इस स्थान को छोड़ कर दूर चले जाओ (पितरः) पूर्वजों ने (अस्मै) इस मृतक के लिये (एतम् लोकम्) इस स्थान को (अक्रन्) बनाया है (यमः) परमात्मा ने भी (अस्मै) इसी मृतक के लिये

(अहोभिः, अद्भिः, अक्तुभिः) दिन रात और जल ही से (व्यक्तं) शोधित (अवसानम्) इस दहन स्थान को (ददाति) दिया है। इसके लिये सुहुत है ॥१३॥

यमः ऋषिः। यमो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ओम् यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अरङ्कृतः स्वाहा॥ १४॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० १३)

अर्थ—(यमाय) वायु के शोधनार्थ (सोमं सुनुत) सोमलतादि ओषधियों को लाओ (यमाय) वायु के शोधन के लिये (हविः) हवनीय द्रव्यों की (जुहुतां) अग्नि में आहुती दिया करो (अग्नि दूतः) पदार्थों का वितरक अग्नि एवम् (अरङ्कृतः) विभिन्न प्रकार के द्रव्यों से अलङ्कृत (यज्ञ) यज्ञ (ह) निश्चित रूप से (यमम गच्छति) वायु का शोधन करते हैं॥ १४॥

यमः ऋषिः। यमो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ओम् यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा॥ १५॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० १४)

अर्थ—(यमाय) वायु शुद्धि के लिये (घृतवत्) घृत तथा हवनीय द्रव्यों से (जुहोत) हवन किया करो (च प्र तिष्ठत) तथा उसे ही विशेष सेवन किया करो (देवेषु) सब पदार्थों में (स) वायु ही (नः) हमें (प्र जीवसे) उत्तम जीवन के लिये (दीर्घम् आयुः) दीर्घायु (आयमत्) देगा। इसके लिये सुहुत है॥ १५॥

यमः ऋषिः। यमो देवताः। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ओम् यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदंनम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा॥ १६॥

(ऋ० म० १० । सू० १४ । मं० १५)

अर्थ—(यमाय यज्ञे) सब के प्राणदाता वायु के लिये (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर (हविः) हवनीय द्रव्यों से (जुहोतन) हवन करो (पथकृद्भ्यः) इस सन्मार्ग

के निरूपक (पूर्वेभ्यः) पूर्व विद्यमान (पूर्वजेभ्यः) पूर्वोत्पन्न (ऋषिभ्यः) ऋषियों के लिये (इदं) ये हमारा (नम) अभिवादन है। इसके लिये सुहुत है ॥ १६ ॥

विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा रसुकृद्धा वशुक्रः ऋषयः। अग्निः देवताः। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धार स्वरः ॥

ओम् कृष्णः श्वेतोऽरूषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्।

हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥ १७ ॥

(ऋ० म० १० । सू० २० । मं० ९)

अर्थ—हे जीवों ! (यामः) यह संसार रूपी रथ (कृष्णः) रात्रि और (श्वेत) दिन (अरूषः) द्वारा प्रत्यक्ष प्रकाशित (ब्रध्नः) बहुत बड़ा (ऋज) मन्थर गति से चलने वाला (उत) और (शोणः) नाना प्रकार के कर्मों से युक्त (यशस्वान्) विविध प्रकार से कीर्तिवान (हिरण्यरूपं) चमकीला आकर्षणमय (जनिता) परमात्मा ने (जजान) उत्पन्न किया है।इसके लिये सुहुत है ॥ १७ ॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चार व्यक्ति सत्रह सत्रह आज्याहुति घृत की देकर निम्नलिखित मन्त्रों से उसी भांति आहुति देवें—

ओम् प्राणेभ्य साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(साधिपतिकेभ्य) जीवात्मा सहित (प्राणेभ्यः) प्राणों के लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ *पृथिवी के लिये सुहुत है ॥ २ ॥*

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ ३ ॥ *अग्नि के लिये सुहुत है ॥ ३ ॥*

ओम् अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ *अन्तरिक्ष के लिये सुहुत है ॥ ४ ॥*

ओम् वायवे स्वाहा ॥ ५ ॥ *वायु के लिये सुहुत है ॥ ५ ॥*

ओम् दिवे स्वाहा ॥ ६ ॥ *आकाश के लिये सुहुत है ॥ ६ ॥*

ओम् सूर्याय स्वाहा ॥ ७ ॥ *सूर्य के लिये सुहुत है ॥ ७ ॥*

ओम् दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ *दिशाओं के लिये सुहुत है ॥ ८ ॥*

ओम् चन्द्राय स्वाहा ॥ ९ ॥ *चन्द्रमा के लिये सुहुत है ॥ ९ ॥*

ओम् नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥	*नक्षत्रों के लिये सुहुत है ॥ १० ॥*
ओम् अद्भ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥	*विभिन्न जलों के लिये सुहुत है ॥ ११ ॥*
ओम् वरुणाय स्वाहा ॥ १२ ॥	*वरुण के लिये सुहुत है ॥ १२ ॥*
ओम् नाभ्यै स्वाहा ॥ १३ ॥	*नाभि के लिये सुहुत है ॥ १३ ॥*
ओम् पूताय स्वाहा ॥ १४ ॥	*पवित्रता के लिये सुहुत है ॥ १४ ॥*
ओम् वाचे स्वाहा ॥ १५ ॥	*वाणी के लिये सुहुत है ॥ १५ ॥*
ओम् प्राणाय स्वाहा ॥ १६ ॥	*प्राणों के लिये सुहुत है ॥ १६ ॥*
ओम् प्राणाय स्वाहा ॥ १७ ॥	*विराट् प्राण के लिये सुहुत है ॥ १७ ॥*
ओम् चक्षुषे स्वाहा ॥ १८ ॥	*नेत्रों के लिये सुहुत है ॥ १८ ॥*
ओम् चक्षुषे स्वाहा ॥ १९ ॥	*दर्शन शक्ति के लिये सुहुत है ॥ १९ ॥*
ओम् श्रोत्राय स्वाहा ॥ २० ॥	*श्रोत्र के लिये सुहुत है ॥ २० ॥*
ओम् श्रोत्राय स्वाहा ॥ २१ ॥	*श्रोत्र के लिये सुहुत है ॥ २१ ॥*
ओम् लोमभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥	*रोम के लिये सुहुत है ॥ २२ ॥*
ओम् लोमभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥	*रोम के लिये सुहुत है ॥ २३ ॥*
ओम् त्वचे स्वाहा ॥ २४ ॥	*त्वचा के लिये सुहुत है ॥ २४ ॥*
ओम् त्वचे स्वाहा ॥ २५ ॥	*त्वचा के लिये सुहुत है ॥ २५ ॥*
ओम् लोहिताय स्वाहा ॥ २६ ॥	*रुधिर के लिये सुहुत है ॥ २६ ॥*
ओम् लोहिताय स्वाहा ॥ २७ ॥	*रुधिर के लिये सुहुत है ॥ २७ ॥*
ओम् मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥	*मेदा के लिये सुहुत है ॥ २८ ॥*
ओम् मेदोभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥	*मेदा के लिये सुहुत है ॥ २९ ॥*
ओम् माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥	*मांस के लिये सुहुत है ॥ ३० ॥*
ओम् माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥ ३१ ॥	*मांस के लिये सुहुत है ॥ ३१ ॥*
ओम् स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३२ ॥	*स्नायु के लिये सुहुत है ॥ ३२ ॥*
ओम् स्नावभ्यः स्वाहा ॥ ३३ ॥	*स्नायु के लिये सुहुत है ॥ ३३ ॥*
ओम् अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३४ ॥	*अस्थियों के लिये सुहुत है ॥ ३४ ॥*
ओम् अस्थभ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥	*अस्थियों के लिये सुहुत है ॥ ३५ ॥*

ओम् मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥ मज्जा के लिये सुहुत है ॥ ३६ ॥
ओम् मज्जभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ मज्जा के लिये सुहुत है ॥ ३७ ॥
ओम् रेतसे स्वाहा ॥ ३८ ॥ वीर्य के लिये सुहुत है ॥ ३८ ॥
ओम् पायवे स्वाहा ॥ ३९ ॥ गुदा के लिये सुहुत है ॥ ३९ ॥
ओम् आयासाय स्वाहा ॥ ४० ॥
जन्मान्तर में उद्यम के लिये सुहुत है ॥ ४० ॥
ओम् प्रायासाय स्वाहा ॥ ४१ ॥ विशेष उद्यम के लिये सुहुत है ॥ ४१ ॥
ओम् संयासाय स्वाहा ॥ ४२ ॥ सु प्रयत्न के लिये सुहुत है ॥ ४२ ॥
ओम् वियासाय स्वाहा ॥ ४३ ॥ विविध यत्नों के लिये सुहुत है ॥ ४३ ॥
ओम् उद्यासाय स्वाहा ॥ ४४ ॥ ऊर्ध्व गति के लिये सुहुत है ॥ ४४ ॥
ओम् शुचे स्वाहा ॥ ४५ ॥ पवित्रता के लिये सुहुत है ॥ ४५ ॥
ओम् शोचसे स्वाहा ॥ ४६ ॥
पवित्रता करने वालों के लिये सुहुत है ॥ ४६ ॥
ओम् शोचमानाय स्वाहा ॥ ४७ ॥
पवित्रता के प्रेरक के लिये सुहुत है ॥ ४७ ॥
ओम् शोकाय स्वाहा ॥ ४८ ॥ शोक के लिये सुहुत है ॥ ४८ ॥
ओम् तपसे स्वाहा ॥ ४९ ॥ तप के लिये सुहुत है ॥ ४९ ॥
ओम् तप्यते स्वाहा ॥ ५० ॥ तप कर्त्ता के लिये सुहुत है ॥ ५० ॥
ओम् तप्यमानाय स्वाहा ॥ ५१ ॥
विशेष तप कर्त्ता के लिये सुहुत है ॥ ५१ ॥
ओम् तप्ताय स्वाहा ॥ ५२ ॥ तप से कृश शरीरों के लिये सुहुत है ॥ ५२ ॥
ओम् धर्माय स्वाहा ॥ ५३ ॥ दिन के लिये सुहुत है ॥ ५३ ॥
ओम् निष्कृत्यै स्वाहा ॥ ५४ ॥ निष्कृति के लिये सुहुत है ॥ ५४ ॥
ओम् प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥ ५५ ॥ प्रायश्चित के लिये सुहुत है ॥ ५५ ॥
ओम् भेषजाय स्वाहा ॥ ५६ ॥ भेषज के लिये सुहुत है ॥ ५६ ॥

ओम यमाय स्वाहा ॥ ५७ ॥ *यम के लिये सुहुत है ॥ ५७ ॥*

ओम् अन्तकाय स्वाहा ॥ ५८ ॥ *काल के लिये सुहुत है ॥ ५८ ॥*

ओम् मृत्यवे स्वाहा ॥ ५९ ॥ *मृत्यु के लिये सुहुत है ॥ ५९ ॥*

ओम् ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६० ॥ *परमात्मा के लिये सुहुत है ॥ ६० ॥*

ओम् ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥ ६१ ॥ *ब्रह्म हत्या के लिये सुहुत है ॥ ६१ ॥*

ओम् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ६२ ॥

विश्वेदेवों के लिये सुहुत है ॥ ६२ ॥

ओम् द्यावा पृथिवीभ्या ᳪं स्वाहा ॥ ६३ ॥

द्यौ तथा पृथिवी के लिये सुहुत है ॥ ६३ ॥

इन त्रेसठ मन्त्रों से पृथक्-पृथक् त्रेसठ आहुति देकर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति दें—

अथर्वा ऋषिः । यमः देवताः । जगती छन्दः । निषाद स्वरः ॥

ओम् सूर्य चक्षुषा गच्छ वात मात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।

अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥ *(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० ७)*

अर्थ—चक्षु सूर्य को प्राप्त हों, प्राण वायु को प्राप्त हों, सब अपने अपने धर्मानुसार आकाश जल तथा पृथिवी को प्राप्त हो अथवा ओषधियों में जहाँ तेरा शरीर हित से रहे। इसके लिये सुहुत है ॥ १ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।

येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिद्देवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० १४)

अर्थ—(एकेभ्यः) किन्हीं-किन्हीं पितृ लोगों के लिये उनकी रुचि के अनुरूप (सोम पवते) सोमलता का रस दिया जाता है (एक) कोई (घृतम् उपासते) विशेषतः घी का उपभोग करते हैं और (येभ्यः) जिनके लिये मधु आदि मिष्ट पदार्थ

(प्र धावति) प्राप्त होता है वे सब उत्कृष्ट कोटि के प्राणी हैं हे जीव ! तू (तान् पितृ एव अपि) उनको ही प्राप्त हो ॥ २ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥ ३ ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० १५)

अर्थ—(येचित्) जो कोई (पूर्वे) पूर्वज (ऋतसाता) सत्य का व्यवहार करने वाले हैं (ऋतजाता) यज्ञ करने वाले है (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले एवम् सत्य का प्रचार करने वाले हैं ऐसे ही (तपस्वत्) तपस्वी (ऋषीन्) ऋषियों को वा (तपोजाम् अपि) उन तपस्वियों के सम्पादित लोकों को हे (यम) संयमी जीव ! तू (गच्छतात्) प्राप्त हो । इसके लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ४ ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० १६)

अर्थ—(तपसा) तपसे (ये अनाधृष्या) जो किसी से नहीं दबाये जा सकते (ये तपसा) जो तप के द्वारा (स्वर्ययु) उत्तम गति को प्राप्त हुए (ये महः तपः) जो महान् तप (चक्रिरे) कर चुके हैं (तांश्चिदेवापि) उन दिव्य लोकों को (गच्छतात्) प्राप्त हो । इसके लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमो देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् ये युद्धयन्ते प्रधनेषुशूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्र दाक्षणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ ५ ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० १७)

अर्थ—(ये शूरासः) जो शूरवीर (प्रधनेषु) संग्रामों में (युद्धयन्ते) युद्ध करते हुए (ये तनूत्यजः) जो शरीर छोड़ देते हैं (वा) अथवा (ये) जो (सहस्र दक्षिणाः) यज्ञादिकों में हजारों दक्षिणा देते हैं (तांश्चिदेवापि) हे जीव ! तू उन लोकों को (गच्छतात्) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

अथर्वा ऋषिः। यमो देवताः। त्रिपदा गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः॥

ओम् स्योनास्मै भव पृथिव्य नृक्षरा निवेशनी।

यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा॥ ६॥

(अथर्व० कां० १८। सू० २। मं० १९)

अर्थ—(अस्मै) इस मृतक के लिये (पृथिवि) पृथिवी (अनृदारा) कङ्कादि रहित (निवेशनी) धारण करने वाली (स्योना) सुखदायक (भव) हो (अस्मै) इस मृतक को (सु प्रथाः) विस्तीर्ण (शर्म यच्छ) सुख दे। इसके लिये सुहुत है॥ ६॥

अथर्वा ऋषिः। यमो देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्य स्तन्निर्वहत परि ग्रामादितः।

मृत्युर्यमस्या सीहूतः प्रचैता असून् पितृभ्यौ गमयांचकार स्वाहा॥ ७॥

(अथर्व० कां० १८। सू० २। मं० २७)

अर्थ—(जीवा)हे जीवो ! (इमम्) इस मृतक के शरीर को (गृहेभ्यः) घर में रख कर (अप) इसकी व्यवस्था के प्रतिकूल (अरुधन्) लोगों ने घेर रक्खा था, यह मर चुका है (तत्) इस कारण से (परि ग्रामादितः) अपने समूहादि बनाकर फिर (निर्वहत) संसार में निर्वाह करा (प्रचेता यमस्य) प्रकृष्ट ज्ञान वाले परमात्मा का (मृत्युः दूतः आसीत्) मृत्यु दूत है उसने (पितृभाः) पूर्वजों की स्थिति प्राप्त करने के लिये (असून्) इसके प्राणों को शरीर से (समयांचकार) पृथक् कर दिया है। इसके लिये सुहुत है॥ ७॥

अथर्वा ऋषिः। यमः देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओम् यमः परो ऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किञ्चन।

यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवौ विवस्वानन्वा ततान् स्वाहा॥ ८॥

(अथर्व० कां० १८। सू० २। मं० ३२)

अर्थ—हे जीव ! (यमः) सब जगत् को नियम में रखने वाला (परोवरः) सबसे बड़ा (विवस्वान्) सूर्यवत् तेजस्वी परमात्मा है (ततः परः) उससे बड़ा (किञ्चन) किसी भी पदार्थ को (न अति पश्चामि) नहीं देखता हूँ (यमे) परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही (मे अध्वरः) हिंसादि रहित मेरा कर्म (अधि निविष्ट)

सम्पन्न हुआ है और (भुवः) अन्तरिक्षादि का भी (विवस्वान्) परमात्मा ने ही (अनु आ ततान) अनुकूलता से विस्तृत किया है। ८ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमः देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

ओम् अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वासवर्णामदधु र्विवस्वते ।

उताश्विनावभरद्यत्तदासीद जहादुद्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥ ९ ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० ३३)

अर्थ—(अमृतां) प्रलय काल पर्यन्त निरन्तर रहने वाली सूर्य की गति को (मर्त्येभ्यः) विद्वानों ने जानकर (सवर्णाम् कृत्वा) एकसा स्वरूप वाली समझकर (अग मू अगूहन्) हृदयङ्गम कर लिया है (विवस्वते अदधुः) सूर्य के आधीन समझा है (उत) और (यत् तत् आसीत् सरण्यूः) जो यह सूर्य की प्रसिद्ध गति है (अश्विनौ) प्राण और अपान का पोषण करती है (द्वा मिथुना) दिन रात्रि आदि जोड़ों को (अजहात उ) बनाकर छोड़ती ही रहती है। इसके लिये सुहुत है ॥ ९ ॥

अथर्वा ऋषिः । यमः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ओम् इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।

ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा ॥ १० ॥

(अथर्व० कां० १८ । सू० २ । मं० ५६)

अर्थ—हे जीव ! (ते असुनीताय) तेरे प्राणों से पृथक् हो जाने पर मृतक शरीर को (वोढवे) उसकी औार्ध्व दैहिक गति के लिये (इमौ वह्नी) गार्हपत्य और क्रव्याग्नि दोनों को मैं ईश्वर (युनज्मि) शव दाहार्थ युक्त करने की आज्ञा देता हूँ (ताभ्याम्) इन दोनों अग्नियों के द्वारा शरीर को (दमाय सा दनम्) वायुमण्डल में प्राप्त करा (च) तथा (समितीः) उत्तम गति को (अव गच्छतात्) प्राप्त हो। इसके लिये सुहुत है ॥ १० ॥

उपर्युक्त दश मन्त्रों से दश घृताहुति देकर—

ओम् अग्नये रयिमते स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(रयिमते) ऐश्वर्यवान (अग्नये) अग्नि के लिये सुहुत है ॥ १ ॥

ओम् पुरुषस्य सयावर्यपे दधानि मृज्महे ।

यथा नो अत्र नापरः परा जरस आयति स्वाहा ॥ २ ॥

(तै० आरण्यक प्र० ६ । अ० १)

अर्थ—(पुरुषस्य सयावरिः) पुरुष का सूक्ष्म शरीर तथा उसके कर्मों के संस्कार (अघानि अपेत) तथा पापों को हटाकर ही हम (मृज्महे) आत्म शोधन की प्रतिज्ञा करते हैं (जरापुरः) वृद्धावस्था तक (अत्र) इस संसार में (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारे मध्य में (अपरः) कोई पाप (न आयति) न आये ॥ २ ॥

ओम् यएतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(य) जो (एतस्य) इस मृतक के सूक्ष्म शरीर के (पथः) मार्ग के (गोप्तारः) रक्षा करने वाले चन्द्रकिरण तथा वायु आदि हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनके लिये सुहुत है ॥ ३ ॥

ओम् यएतस्यपथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(एतस्य पथः) मृतक के सूक्ष्म शरीर के (यः) जो (रक्षितारः) रक्षा करने वाले हैं (तेभ्य स्वाहा) उनके लिये सुहुत है ॥ ४ ॥

ओम् य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—(एतस्य) इस मृतक के सूक्ष्म शरीर के (पथोऽभिरक्षितारः य) मार्ग के जो सह सहायक रक्षक हैं (तेभ्यः स्वाहा) उनके लिये सुहुत है ॥ ५ ॥

ओम् ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ—मृतक की (ख्यात्रे) ख्याति के लिये सुहुत है ॥ ६ ॥

ओम् अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ—मृतक की (अपख्यात्रे) अपकीर्ति करने वालों के लिये सुहुत है ॥ ७ ॥

ओम् अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ—मृतक के (अभिलालपते) सुकृतों का वर्णन करने वालों के लिये सुहुत है ॥ ८ ॥

ओम् अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥

अर्थ—मृतक के (अपलालपते) सुकृतों का वर्णन न करने वालों के लिये सुहुत है ॥ ९ ॥

ओम् अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥

अर्थ—(कर्मकृते) कर्मकाण्ड में प्रयुक्त (अग्नये) अग्नि के लिये सुहुत है ॥ १० ॥

ओम् यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥

अर्थ—(अत्र) यहाँ (यम) जिस उपयुक्त वस्तु को (न अधीमः) स्मरण नहीं करते हैं (तस्मै स्वाहा) उसके लिये सुहुत है ॥ ११ ॥

ओम् अग्नये वैश्वानराय सुवर्गायलोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥

(तै० आर० प्र० ६ । अ० २)

अर्थ—(वैश्वानराय अग्नये) वैश्वानर अग्नि के द्वारा (सुवर्गाय लोकाय) सुखमय शरीर प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सुहुत है ॥ १२ ॥

ओम् आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेद प्रयताभिरक्ता ।

आसीदता ꣳ सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्ज्याय जात्यै मम शत्रु हत्यै स्वाहा ॥ १३ ॥

अर्थ—(यमः ह देव) जगत् के नियम में रखने वाला प्रसिद्ध परमात्म देव (सुमनाभिः ऊतिभिः) प्रशंसनीय स्तुतियों से हमें (आ यातु) भली भांति प्राप्त हो (वा) और (इह) यहाँ संसार में (प्रयताभिः) वैदिक स्तुतियों से (अक्ता) सम्बद्ध हमारी बेला हो (मम) मुझ यजमान के (सु प्र यते ह बर्हिषि) भली भांति विस्तृत यज्ञों में (ऊर्जाय) अन्न व बल की सिद्धि के लिये तथा (जात्यै) उत्तम जन्म प्राप्ति के लिये (शत्रु हत्यायै) तथा शत्रुओं के नाश के लिये (आसीदताम्) सम्मिलित हुआ करें। इसके लिये सुहुत है ॥ १३ ॥

ओम् योऽस्यकोष्ठ जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी ।

यमं भङ्ग्यंश्रवो गाय यो राजाऽनपरोभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥

अर्थ—(यः) जो (अस्य कोष्ठयः) सूर्य के प्रकाश से युक्त मण्डल (पार्थिवस्य जगत्) इस पृथिवी की चराचर सृष्टि को (वशी) वश में करने वाला है और (यः) जो (अनपरोभ्यः राजा) स्वच्छन्द राजा है उसी (यमम्) वायु तथा सूर्य के प्रति (भङ्ग्य श्रवः) साम स्तोमों को (गाय) गाया कर। इसके लिये सुहुत है ॥ १४ ॥

ओम् यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोभ्यः ।

येनाऽऽपो नद्यो धन्वानियेन द्यौ पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥

अर्थ—(यमं भङ्ग्यश्रवः गाय) यम अर्थात् परमात्मा का साम स्तोमों से गान कर (यः) जो (अनपरोभ्यः राजा) निर्बाध रूप से सबका राजा है (येन आपः) जिसने जल युक्त (नद्यः) नदियों (धन्वानियेन) शुष्क मरु प्रदेशों (द्यौ पृथिवी) द्यौ तथा पृथिवी को (दृढ़ा) दृढ़ता से धारण किया हुआ है। इसके लिये सुहुत है ॥ १५ ॥

ओम् हिरण्यकक्षान् सुधुरान् हिरण्याक्षानयः शफान् ।

अश्वाननश्शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥

अर्थ—(यम: राजा) जो जगत् का नियामक राजा यम अर्थात् परमेश्वर है वही (अन: शत:) सबका प्राणाधार अपरिमित जलों का देने वाला हमें (दानम्) दान की प्रवृत्ति देवे वही राजा (हिरण्यक् इयान्) दीप्तिमान प्रदेशों वाले (सुधुरान्) अच्छे भार वाले (हिरण्याक्षान्) सुन्दर दीप्तिमान नेत्रों वाले (अय: शफान्) लोहे के पदार्थ जिनमें गतिसाधन से शफ-खुर जैसे हैं ऐसे (अश्वान्) वेग से चलने वाले पृथिव्यादि मण्डलों के (अभितिष्ठति) सब ओर स्थित है। इसके लिये सुहुत है ॥ १६ ॥

ओम् यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत्।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणाद्वायुरक्षित स्वाहा ॥ १७ ॥

अर्थ—(यम:) नियामक परमेश्वर ने (पृथिवीं) पृथिवी को (दाधार) धारण कर रक्खा है (यम:) उस नियामक परमात्मा ने ही (इदम् विश्वम् जगत्) यह सम्पूर्ण जगत् धारण कर रक्खा है (यमाय) नियामक परमात्मा के नियम के अनुकूल ही (सर्वम् इत्) सब स्थित है (यत्) जो कुछ है वह (प्रणन वायु रक्षितम्) प्राण वायु से रक्षित है ॥ १७ ॥

ओम् यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदर्शय:।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥

अर्थ—(यथा पञ्च) जैसे पृथिव्यादि पञ्च महाभूत (यथा षड्) जैसे ग्रीष्मादि षड् ऋतुयें (यथा पञ्च दश ऋषय:) तथा जैसे पन्द्रह तिथियां तथा सप्तर्षि विद्यमान हैं उन सब को (स:) वह (ब्रूयात) कहने में समर्थ होगा जो (यमम्) ईश्वरीय व्यवस्था को (विद्यात्) जानेगा (यधा एक ऋषि:) जैसे एक सर्वज्ञ परमात्मा (वि जानते) ही भली भांति जानता है ॥ १८ ॥

ओम् त्रिकद्रुकेभि: पतति षड्वीरेकमिद्बृहत्।
गायत्री त्रिष्टुप् छन्दा ॐ सि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥

अर्थ—(त्रिकद्रुकेभि:) त्रिकद्रुक नाम के यज्ञ विशेषों से (षट् ऊर्वी:) छ: वस्तुओं, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, वनस्पति, बल और सत्य वाणी इनको (पतति) प्राप्त होता है (बृहत्) वह बृहत् ब्रह्म एक ही है (गायत्री त्रिष्टुप्) गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्द और (सर्वाता:) जगत् की सब वस्तुऐं (यमे आहिता) परमात्मा में ही स्थित हैं। इसके लिये सुहुत है ॥ १९ ॥

ओम् अहरहर्नयमानो गामश्वं जगत्।
वैवस्वतो नतृप्यतिपञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा॥ २०॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद रूप पांचों प्रकार के मानवों (गाम अश्व पुरुषं जगत्) तथा गो, अश्वादि एवम् जगत् के पुरुषों को (नयमानः) निरन्तर ले जाता हुआ (वैवस्वतः यमः) दीप्तिमान ईश्वर (न तृप्यति) तृप्त नहीं होता तदर्थ यह सुहुत है॥ २०॥

ओम् वैवस्वते विवष्यन्ते यमेराजनि ते जनाः।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा॥ २१॥

अर्थ—(वैवस्वते यमे राजनि) सूर्यादि के नियामक परमात्मा के राजा होते हुए ही (य इह) जो इस संसार में (य उ सत्येन इच्छन्ते) जो निश्चय से सत्य व्यवहारों की इच्छा करते हैं (य ये) और जो (अनृतवादिनः) झूठ बोलने वाले हैं (ते जनाः) वे दोनों प्रकार के पुरुष कर्म फल भोगने के लिये (वि विध्यन्ते) पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। तदर्थ सुहुत है॥ २१॥

ओम् ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथाया यान्ति त्वामुप।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणाश्चापचित्यति स्वाहा॥ २२॥

अर्थ—हे (राजन्) परम शोभास्पद परमात्मन्! संसार में (ते) वे दोनों धार्मिक तथा अधार्मिक प्राणी (वि, विच्यन्ते) मरणान्तर पृथक्-पृथक् किये जाते हैं (ये देवान् नमस्यन्ति) जो प्राणी धार्मिक विद्वानों का सत्कार करते हैं तथा (ब्राह्मणान् अप चित्यति) धर्मात्मा ब्राह्मणों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करते हैं (त्वाम् उप यन्ति) वे तेरे सामीप्य को प्राप्त होते हैं (अथा) और अन्य पापाचारी संसार चक्र में भटकते हैं॥ २२॥

ओम् यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिवते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणो अनुवेनति स्वाहा॥ २३॥

अर्थ—(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस शोभायमान ढाक के वृक्ष तुल्य शोभित संसार में (देवैः) दिव्य शक्तियों के द्वारा (यम) परमात्मा (सम् पिवते) सम्यक् रूप से प्रवृत है (अत्र) इस संसार में (विश्पतिः) विभिन्न प्रजाओं का स्वामी (नः) हमारा (पिता) रक्षक (पुराणा) पुरातन (अनुवेनति) समग्र सृष्टि को अनुकूलता से चलाये रहता है, (स्वाहा) तदर्थ यह सुहुत है॥ २३॥

ओम् उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अह थ्रं रिषम्। एताँ स्थूणां पितरो धारयन्तु ते ऽत्रा यमः सादनात्ते मिनोतु स्वाहा॥ २४॥

(तैत्ति० आर० प्र० ६ । अ० ७)

अर्थ—हे जीवगण ! तुम्हारे लिये ही (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत् तभ्नोमि) अच्छी तरह प्रतिबद्ध किये हुये हूँ, (त्वत् परि) पृथिवी तेरे ऊपर (इमम् लोकम्) इस प्रजा को (निदधन्) धारण करता हुआ (मो अहम् रिषम्) मैं किसी को पीड़ित नहीं करता हूँ (एताम् स्थूणाम्) इस जगत् में व्यवहार रूपी स्तम्भ को (ते पितरः) तेरे विद्वान् पितृगण (धारयन्तु) धारण करें (अत्र) इस संसार में (ते) तेरे लिये (यम सादनात्) वायव्वालय में (मिनोतु) स्थान बनाये। इसके लिये सुहुत है॥ २४॥

ओम् यथा ऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्तिक्लृप्ताः। यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायू थ्रंषि कल्पयैषां स्वाहा॥ २५॥

अर्थ—(यथा) जैसे (अहानि) दिन रात्रि (अनुपूर्वम्) अनुक्रम से (भवन्ति) होते रहते हैं (यथा ऋतवः) जैसे वसन्तादि ऋतुऐं (ऋतुभिः) उत्तरोत्तर ऋतुओं के साथ (क्लृप्ताः) सम्बद्ध होकर (यन्ति) आती जाती रहती हैं (यथा) जैसे (पूर्वैः) पूर्व पुरुष अर्थात् पिता को (अपरः) अन्य पुत्रादि (न जहाति) नहीं छोड़ता है (एवं) इसी भांति (एषाम्) इन प्राणियों के (आयूंषि) जीवन को (कल्पय) बढ़ाओ। इसके लिये सुहुत है॥ २५॥

**ओम् नहि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकारमर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुगौरिव।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा॥ २६॥**

(तैत्ति० आर० प्रपा० ६ । अनु० १०)

अर्थ—(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (ते) तेरी सृष्टि में (मत्र्यः) कोई भी मनुष्य (तनुवै) अपने शरीर के पोषण के लिये (क्रूरम्) हिंसादि क्रूर कर्म (नहि चकार) न करे (कपिः) बन्दर की भांति निरन्तर चेष्टा युक्त यह जीव (पुनः) विशेष कर (तेजनम्) अपनी चेष्टाओं को (बभस्ति) ऐसे ही प्रकट करता रहे, (गौ) गो (इव) के समान (जरायुः) जैसे गाय अपनी जेर की रक्षा करती है, तद्वत् यह भी अपनी रक्षा करता रहे (अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (नः अद्यम्) आप हमारे दुष्ट स्वभाव

को (अपशोशुचत्) हमसे पृथक् कर दीजिये, (रयिम् शुशुध्या) हमारे धन दानादि वृत्ति द्वारा शुद्ध कीजिये। (मृत्युवे स्वाहा) मृत्यु के लिये यह सुहुत है॥ २६॥

इन छब्बीस मन्त्रों की छब्बीस आहूतियाँ दें। "ओम् अग्नेय स्वाहा" से लेकर "मृत्यवे स्वाहा" तक एक सौ इक्कीस आहुतियाँ हुयीं। चार जनों की मिलकर चार सौ चौरासी अथवा दो जने घृत की आहुति देवें तो दो सौ बयालीस आहूतियां हुईं। यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एक सौ इक्कीस मन्त्रों से घृत की आहुति यावत् शरीर भष्म न होवे तावत् देते जायें।

जब शरीर भष्म हो जाए तब सब लोग वस्त्र प्रक्षालन तथा स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन तथा प्रक्षालानादि से शुद्धि करके यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे स्वस्ति वाचन तथा शान्तिकरण का पाठ तथा तत्पश्चात् यज्ञ प्रकरण में लिखे प्रमाणे एक व्यक्ति द्वारा अर्थ सहित ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्रों का पाठ करके तत्पश्चात् इन्हीं स्वस्ति वाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों के आरम्भ में ओम् तथा अन्त में स्वाहा लगाकर सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर मं देवें, कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाए और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे। यदि उस दिन रात्रि हो जाए तो थोड़ी सी आहुति देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देकर पूर्णाहुति करे।

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि एवम् भष्म उठाकर, उसे उस श्मशान-भूमि में कहीं गढ़ा खोदकर गाड़ दे अथवा रख देवे, बस इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्त्तव्य अर्थात् करणीय नहीं है, क्योंकि पूर्व "भस्मान्त थ्शरीरम्" यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाह कर्म और अस्थि संचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कर्म करणीय नहीं है। हां यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी वा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सम्बन्धी वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथ पालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करे, यह अति उत्तम कार्य है।

इति अन्त्येष्टि कर्म प्रकरणम्।

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीमत् आत्मानन्द तीर्थ स्वामिनः
कृतौ "अभिनव संस्कार विधिः"
ग्रन्थ पूर्त्तिमगात्।